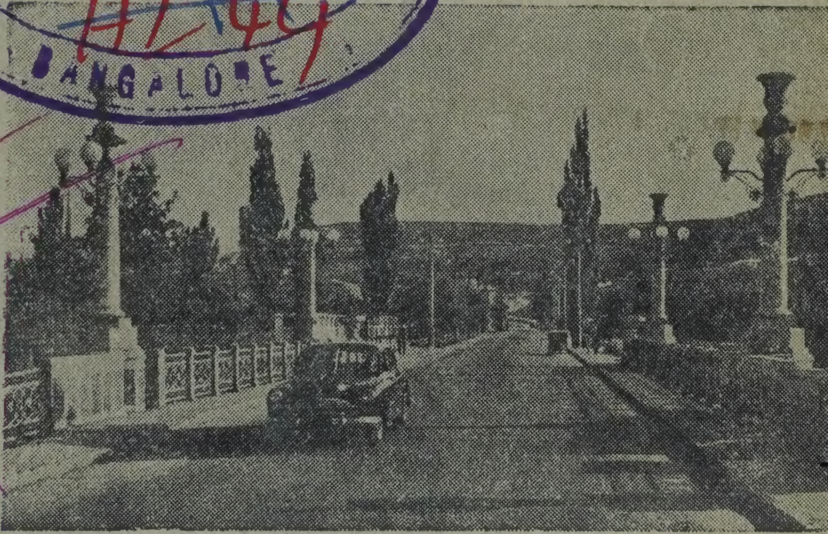
देशविदेश यात्रामाला

काले सागर की गोद में



सम्पादक

डॉ. नारायणदास खन्ना

काले सागर की गोद में

लेखिका
अन्नपूर्णा खन्ना
विदुषी (आनर्स), सरस्वती

सम्पादक
डॉ० नारायणदास खन्ना
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

अमर प्रकाशन
इलाहाबाद-३

प्रकाशक
अमरनाथ महेन्द्र,
अमर प्रकाशन
७२, महाजनी टोला,
इलाहाबाद

मुद्रक
हरिश्चन्द्र अग्रवाल
रोहिताश्व प्रिंटर्स
ऐशबाग रोड, लखनऊ-४

प्रथम बार—१९६१
द्वितीय बार—१९६३
मूल्य—ढाई रुपया

पुस्तक मिलने का पता
श्रीमती अन्नपूर्णा खन्ना
२२७, राजेन्द्रनगर,
लखनऊ—४.

दो शब्द

काश्मीर की भाँति काला सागर के तटवर्ती क्षेत्र भी वे रम्य-स्थल हैं जहाँ प्रति वर्ष लाखों रूसी और विदेशी पर्यटन के लिए जाया करते हैं। इस सागर के जल में ऐसे-ऐसे रासायनिक पदार्थ घुले-मिले हैं जिनसे सामान्य व्यक्ति के स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचता है। यही कारण है कि वहाँ हजारों की संख्या में विश्वविख्यात सैनेटोरियम हैं, जहाँ बीमारों के उपचार और स्वस्थ लोगों के पूर्ण विश्राम का अद्वितीय प्रबन्ध है। वास्तविकता यह है कि काला सागर के क्षेत्र उपचार, स्वास्थ्य, मनोरंजन, पर्यटन, नैसर्गिक छटा आदि की दृष्टि से रूस का हृदय कहे जा सकते हैं। मैंने इन्हीं थोड़े-से क्षेत्रों, अर्थात् सुखूमी, नोवी अफोन, पित्सुंदा, गागरा, रीत्सा, आदलेर, सोची आदि की एक छोटी-सी झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और वहाँ यात्रियों के ठहरने के लिए रूसी सरकार की ओर से खोले गये यात्री-केन्द्रों की प्रबंध-व्यवस्था, सुख-सुविधाओं और त्रुटियों आदि का आँखों-देखा वर्णन किया है।

हमारे देश की जनता भी पर्यटनप्रिय हैं और उसके पथ-प्रदर्शन के लिए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने यत्र-तत्र यात्री-ब्यूरो खोले हैं। मैं समझती हूं कि यदि हमारे यहाँ भी काला सागर क्षेत्रों की भाँति के सस्ते यात्री-केन्द्र खोल दिये जायँ और उनका संचालन सरकारी स्तर पर किया जाय तो यात्रियों को बड़ी राहत मिलेगी।

यदि मेरे अनुभवों से सिन्धु में विन्दु सदृश भी मेरे देश का लाभ हुआ तो मैं अपने को धन्य समझूँगी।

अन्त में, मेरे नये प्रयास के कारण, पुस्तक की छपाई में जो भी अशुद्धियाँ रह गई हों, उनके लिए मैं पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

२२७, राजेन्द्र नगर
लखनऊ

अन्नपूर्णा खन्ना

परिचय

बचपन में जब कभी गाँवों के मेलों में जाते तो हमें एक विशेष आदमी की खोज रहती। पगड़ी बाँधे, लंबा-सा कुरता, धोती और गंवारू जूते पहने, हाथ में लाठी लिए हुए एक बूढ़ा-सा आदमी। उसके कंधे से पीतल की एक बंद आलमारी सूत की रस्सी से लटकी हुई रहती, जिस पर क्वीन विक्टोरिया और हनुमान जी के चित्र काट-काट कर चिपकाये गये होते। हम लोगों के देखते ही यह आदमी पीतल की आलमारी नीचे रखता और पुकार उठता—दिल्ली की रानी देखो, लंदन का राजा देखो, राजे का बंगला देखो, बंगले की खिड़की देखो, खिड़की का चौका देखो, चौके का पंजा देखो, पंजे का छक्का देखो...... आदि-आदि और हम लोग एक-एक पैसा देकर उस आलमारी में लगे हुए गोल शीशे में अपनी आँखें लगा देते। कहीं कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल देखते, कहीं पंचम जार्ज की तस्वीर देखते और कहीं मास्को का क्रेमलिन। वह बूढ़ा-सा आदमी एक खूंटी घुमाता जाता और भीतर की तस्वीरें बदलती जातीं। देश-विदेश के स्थान एक ही जगह बैठकर हम लोग देख लेते थे।

बचपन का वह क्रीड़ा-विनोद आज यात्रा-साहित्य के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यात्रा सम्बन्धी मैंने अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, किन्तु सभी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। सबसे अच्छा दृष्टिकोण तो वह है जिसमें यात्रा की मनोरमता इतनी प्रत्यक्ष हो कि हमारा मन किसी कल्पित यान पर बैठकर पुस्तक लेखक के साथ विविध स्थानों के भ्रमण, आकर्षण में लीन हो जाय।

काले सागर की यात्रा श्रीमती अन्नपूर्णा खन्ना की एक प्रयत्न-साध्य यात्रा थी। इस प्रयत्न ने उनकी यात्रा की उत्सुकता और भी बढ़ा दी। उन्होंने मनोयोगपूर्वक एक-एक स्थान का सजीव चित्रण किया है। उनके चित्रण की शैली बड़ी प्रभावपूर्ण है। एक-एक स्थान का इतिहास, यात्रा की सुविधा-

असुविधा, नवीन व्यक्तियों से भेंट, स्थान का आकर्षण और उनकी मानसिक प्रतिक्रिया का बड़ा हृदय-स्पर्शी चित्रण है। वर्णन-वैचित्र्य में कथोपकथन कहानी के कथोपकथन की भांति कौतूहलपूर्ण और जिज्ञासाजनक है। कहीं-कहीं तो यह चित्रण आत्म-कथा की शैली में उपस्थित किया गया है। यात्रा-वर्णन के लिए यह शैली बड़ी प्रवाहपूर्ण है।

श्रीमती अन्नपूर्णा खन्ना अपने पति और संक्षिप्त परिवार के साथ मेरे कार्यकाल के पूर्व से ही मास्को में थीं। परिवार के दायित्व से निखरी हुई कृश-काया, एक भारतीय गृहिणी का शिष्ट और मर्यादापूर्ण व्यवहार, कार्य-कौशल और सहज विनोद उनके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इस व्यक्तित्व की झलक इस यात्रा-विवरण में अनेक स्थानों पर चित्रित हुई है। ऐसी स्वाभाविक और सहज शैली में लिखी गई इस पुस्तक का मैं स्वागत करता हूँ। यात्रा-साहित्य में इस पुस्तक की शैली एक नई दिशा की ओर संकेत करती है। मुझे विश्वास है कि विदेश-यात्रा के लिए उत्सुक व्यक्ति, साहित्यिक तथा भूगोल के विद्यार्थी इस पुस्तक से संतुष्ट ही नहीं लाभान्वित भी होंगे।

मेरी मास्को-यात्रा के पूर्व ही उनकी काले सागर की यात्रा प्रकाशित हो गई, उनकी इस जीत पर मैं उन्हें बधाई देता हूं।

(डॉ०) रामकुमार वर्मा
पद्म-भूषण

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ।।

भारतेन्दु

विषय-सूची

मास्को से प्रस्थान

काले सागर के तटवर्ती क्षेत्र संसार के उन थोड़े से रम्य स्थलों में हैं, जहाँ प्रकृति ने अपना सौन्दर्य लुटाने में पूरी उदारता का परिचय दिया है। रूस के दक्षिण में इन क्षेत्रों को देखना सिर्फ भाग्य की ही बात समझिये। भाग्य की बात मैं इसलिए कह रही हूं कि एक तो भारतीयों के लिए रूस जाने में बड़ी बाधाएं उपस्थित होती हैं, दूसरे यदि वे रूस पहुँचे भी, तो रूस की ट्रैवलिंग एजेंसी, 'इन्तूरिस्त', मास्को और लेनिनग्राद दिखाकर ही उन्हें वापस भेज देती है।

चूंकि मैं सोवियत संघ में कोई तीन साल तक रही थी, अतएव मुझे इन प्राकृतिक स्थानों को देखने का अवसर मिल गया और यह अवसर भी सिर्फ संयोग से ही मिला। कारण यह कि इन स्थानों को देखने के लिए रूसी सरकार की ओर से कुछ अनुमति-पत्र बंटा करते है। 'बंटा करते हैं' के अर्थ यह नहीं कि मुफ्त मिला करते हैं। ऐसे प्रत्येक अनुमति-पत्र, जिसे रूसी में 'पुचोव्का' कहते हैं, का मूल्य होता है ७५ रूबल (३१० रुपया)। इस मूल्य में वहाँ रहने, खाने-पीने तथा दर्शनीय स्थान दिखाने के लिए बस की व्यवस्था की जाती है। अनुमति-पत्र क्रीमिया और काकेशिया के लिए अलग-अलग होता है। इस प्रकार के अनुमितपत्र महीनों पहले ही बिक जाते हैं। मुझे इन स्थानों का देखने के लिए मध्य जुलाई में (१७ जुलाई १९५९ से) जाना था। परन्तु उनके लिए अनुमति-पत्रों की व्यवस्था मेरे पति को अप्रैल में ही करनी पड़ी थी। अप्रैल में भी ये अनुमति-पत्र बड़ी ही दौड़-धूप के बाद मिले थे।

हमने अपने लिए पांच अनुमति-पत्र खरीदे थे। दो अपने परिवार के लिए और तीन अपने पति के सहयोगी श्री ओंकारनाथ पंचालर, उनकी पत्नी उर्मिला, और डॉ० वीरेन्द्र शुक्ल के लिए।

हम सबने बहुत पहले से ही यह तय कर लिया था कि हम निश्चित तारीख, अर्थात् १७ जुलाई १९५९, को सुखूमी में ही मिल जायेंगे। मैं यहाँ

यह भी कह दूँ कि अनुमति-पत्र में मास्को अर्थात् हमारी काकेशिया यात्रा के आरम्भ-स्थान से सुखूमी तक आने-जाने का रेल का किराया शामिल न था।

मैं २२ जून १९५९ को ही अपने पति के साथ योरोप के पूर्वी देशों की यात्रा पर निकल गयी थी। वस्तुतः यह सोवियत संघ निवास का हमारा अन्तिम वर्ष था। अतएव हमें सभी दर्शनीय स्थल इसी वर्ष देख लेने थे। पिछले साल मैंने योरोप में इटली, जर्मनी तथा पूर्व के अन्य देश न देखे थे। इस बार उन्हें भी देखना था। मेरी योजना यह थी कि मैं सपरिवार योरोप से लौटकर सीधे काकेशिया पहुँच जाऊँगी। परन्तु योरोप में मुझे सोवियत वीसा देर से मिला, अतः मैं १६ जुलाई १९५९ की शाम को मास्को गई। १७ जुलाई को मुझे काकेशिया पहुँचना था। अतएव जब मैं ट्रेन के टिकट खरीदने गयी तो मालूम हुआ कि छः दिन आगे तक के सारे टिकट बिक चुके हैं। फिर हमें तो टिकट यों भी न मिल सकते थे इसलिए कि इन स्थानों को देखने के लिए हमारे पास सरकारी अनुमति न थी। मैं यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि अनुमति-पत्र–'पुचोव्का'– वस्तुतः एक टिकट होता है जिसे दिखाकर आप वे सारी सुविधाएं प्राप्त कर सकने हैं जो विधिवत् किसी भी यात्री को मिल सकती हैं। परन्तु इस अनुमति-पत्र के साथ रूसी नियमों के अनुसार यह भी जरूरी है कि आप सरकारी अधिकारियों से उन समस्त नगरों में प्रवेश करने की अनुमति ले लें जहाँ आप जाना चाहते हैं। जब मुझे इस मुसीबत का पता चला तो मुझे निराशा होने लगी, इसलिए कि पहले तो मुझे यों ही विलम्ब हो गया था, फिर सरकारी अनुमति में तो अभी और न जाने कितना विलम्ब हो जाता। पर खैर, मेरे पति के आफिसवालों ने हमारी सहायता की और हमें १७ जुलाई की शाम तक सरकारी अनुमति मिल गयी। हमें बतूनी और अदेसा जाने की अनुमति नहीं मिली क्योंकि मुझे बताया गया कि ये नगर विदेशियों के लिए बन्द हैं।

अस्तु, १७ जुलाई को ही मेरे पति हवाई जहाज के टिकट लेने पहुँचे, पर उस दिन जहाज पर भी कोई जगह न थी। हाँ, 'इन्तूरिस्त' वालों ने विशेष प्रयत्न करके हमें १९ जुलाई १९५९ को रात के साढ़े ग्यारह बजे वाले हवाई जहाज के टिकट दे दिये और हमारी जान में जान आयी।

'पुचोव्का' की अवधि केवल २० दिनों की होती है, अर्थात् यात्रियों की व्यवस्था करने वाले अधिकारी यात्री को निश्चित तिथि (मेरे लिए १७ जुलाई) से लगाकर २० दिनों तक ही अपना मेहमान रखते हैं। बाद में रहने खाने आदि का सारा व्यय यात्री को स्वयं करना होता है। मेरे दो दिन व्यतीत हो चुके थे, पर उन्हें नष्ट होने से बचाने का मेरे पास कोई साधन न था। हाँ, यह प्रसन्नता जरूर थी कि अब मैं संसार के उन प्रदेशों को देख सकूँगी जिन्हें भौगोलिकों और इतिहासकारों ने भूरि-भूरि सराहा है।

सच पूछिये तो पूर्वी योरोप की तूफानी यात्रा के बाद हम लोग थक कर चूर हो चुके थे। फिर भी काकेशिया के नाम से जैसे हममें नयी जान आ गई और जब हमारे जहाज ने सुखूमी की धरती पर कदम रखा तो हमारी बाँछें खिल उठीं। हमारा जहाज यहाँ पूरे आठ घंटे की उड़ान के पश्चात् पहुँचा था।

सुखूमी

सुखूमी काले सागर के तट पर जार्जिया स्थित अवखास स्वायत्तशासी जनतंत्र में प्राकृतिक सुषमा से ओतप्रोत एक छोटा सा नगर है। इसका हवाई अड्डा बड़ा साधारण है। हम सबको, अर्थात् मुझे, मेरे पति और मेरे पुत्र विजय को 'तुरबाजा' अर्थात् यात्री केन्द्र, तक पहुँचना था, जो हवाई अड्डे से १६ मील दूर था। हमने टैक्सी की और कोई पौन घंटे बाद केन्द्र में आ गये।

टैक्सी के केन्द्र के सामने रुकते ही केन्द्र का एक कर्मचारी हमारे पास आया और हमारा सामान उठाकर हमें पीछे-पीछे आने का संकेत करने लगा। वह हमारा सामान 'केमरा ख्रानेनिया' (सामान कक्ष) में ले गया, जहाँ उसे पूरी सुरक्षा के साथ रख दिया गया। काले सागर की अपनी यात्रा में मैं जिन यात्री केन्द्रों में गयी हूं वहाँ मैंने इस प्रकार के सामान-कक्ष देखे हैं। यहाँ यात्री अपना सामान रख देते हैं और जब कभी उन्हें आवश्यकता होती है अपना बक्स खोलकर आवश्यक सामान निकाल लेते हैं। फिर बक्स जहाँ का तहाँ रख दिया जाता है। इस कक्ष की सुरक्षा के लिए पहरेदारों की व्यवस्था होती है।

केन्द्र में आते ही पता चला कि हमारे भारतीय बन्धु हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्री ओंकार नाथ पंचालर, उनकी पत्नी और डा० वीरेन्द्र शुक्ल के अनुज महेन्द्र शुक्ल समय से ही वहाँ आ गये थे। उन्होंने सारे अधिकारियों में यह ढिंढोरा भी पीट दिया था कि अभी कुछ और भारतीय आयेंगे।

सुखूमी ही नहीं सारे काकेशिया में भारतीयों का आना गूलर में फूल लगने के समान है, इसलिए कि यहाँ भारतीय गाहे-बगाहे ही आते हैं। भारत की विदेश नीति के कारण सोवियत संघ भर में भारतीयों का बड़ा मान-

सम्मान है। इसलिए केन्द्र में कदम रखते ही अधिकारियों ने हमारा बड़ा स्वागत किया, वे हमसे बड़े स्नेह से मिले, उन्होंने हमें कमरे दिये और हमारे खाने-पीने का पूरा इन्तजाम कर दिया।

यहाँ हमें श्री ओंकार नाथ और उर्मिला से मिल कर अपने वे सुखी दिन फिर याद हो आये जब हमने उनके साथ पश्चिमी योरोप के देशों का दौरा किया था और सारी यात्रा बड़े आनन्द से कटी थी। उस समय हम कुल मिलाकर नौ प्राणी थे। इस समय हमारी संख्या सिर्फ छः थीं। छः भारतीयों का उस भूमि पर साथ-साथ निकलना, जहाँ हमारे देशवासी गाहे-बगाहे पहुँचते हैं, स्वयं नगरवासियों के कौतूहल का विषय था।

हम ओंकार नाथ जी से बड़ी देर तक केन्द्र के प्रबन्ध और अपने भावी प्रोग्राम की ही चर्चा करते रहे। इस बीच उन्होंने हमें एक दिलचस्प घटना सुना डाली। बोले 'पहले दिन जब हम लोग खाने की मेज पर पहुँचे तो देखा वहाँ मांस-मछली का बाजार लगा है। हम ठहरे घासचर यानी शाकाहारी। हमने सिर्फ पानी पिया और सारा सामान ज्यों-का-त्यों लगा छोड़कर, बिना किसी से कुछ कहे सुने, अपने कमरों में चले आये। अधिकारियों को यह तो पता था नहीं कि हम शाकाहारी हैं, उन्होंने समझा कि उनका बना खाना हमें पसन्द नहीं आया, या शायद खाने में कोई पतिंगा या झींगुर निकल आया है। अतएव वहाँ तहलका मच गया। भारतीय बिना खाये-पिये उठ गये! आखिर अधिकारी मेरे कमरे में आये, मुझसे खाना न खाने का कारण पूछा और जब मैंने उन्हें यह बताया कि हमारे धर्म में मांस-मछली वर्जित है तो उन्होंने हमें शुद्ध वैष्णव खाना खिलाने का वचन दिया। तब से हमें जो खाना मिल रहा है वह भारतीय तो नहीं, हां यहाँ की व्यवस्था देखते हुए बड़ा ही सन्तोषप्रद है। अच्छा चलो, नाश्ते का समय हो गया। तुम खुद ही देख लोगी।'

हम लोग दैनिक-चर्या से निपट तो चुके ही थे, फलतः नाश्ते के लिए चल दिये। नाश्ता एक बहुत बड़े हाल में, सैकड़ों व्यक्तियों को एक साथ, मिलता था। नियमतः प्रत्येक यात्री को अपना नाश्ता स्वयं लाना पड़ता था। पर हम अपना नाश्ता खुद लाने के बजाय एक बड़ी-सी मेज पर जम गये। मैंने

ओंकार जी से कहा भी 'यह क्या, जब सभी अपना नाश्ता ला रहे हैं तो हम ही क्यों बैठे रहें ?' पर उन्होंने मुझे इत्मीनान दिलाते हुए कहा—'बस बैठी-बैठी देखती जाओ।' और तभी एक अधेड़ उम्र की सेविका हमारे पास आयी, 'अच्छा तो आ गये आपके तवारिश (मित्र)?' उसने रूसी में पूछा—'ये सब भी आपही की तरह शाकाहारी हैं।'

'ये हमसे बड़े शाकाहारी हैं। हम तो प्याज तक खा लेते हैं पर ये उसे छूते भी नहीं,' ओंकार जी रस लेते हुए बोले।

'कोई बात नहीं, हम इनके लिए भी अच्छा इन्तजाम कर देंगे।'

और सचमुच जिस द्रुतगति से उसने हमारी मेजें लगायीं, शुद्ध शाकाहारी नाश्ता—क्रीम से ढके आलू-चाप, काफी, चाय, बिस्कुट, फल आदि—हमारे सामने रखा उससे हमें बड़ा आश्चर्य हुआ।

'भाई इस सबका क्या राज है, कोई गगनचुम्बी बात है क्या?' मेरे पति ने जैसे चुटकी लेते हुए ओंकार जी से पूछा।

परन्तु ओंकार जी ने हमें जो बात बतायी वह सचमुच बड़ी आश्चर्यजनक थी। मैं चाहती हूं कि मेरे पाठक कभी ओंकार जी के इस नुस्खे को आजमा कर देखें। वे बोले—'पहले दिन जब यह महिला हमारे लिए खाना लायी तो बड़ी सुस्त थी। मैंने तुरन्त उससे कहा—अरे तुम तो यहाँ बड़ी मेहनत करती हो। इतने कायदे से खाना लगाती हो कि मैंने ऐसी सर्विस योरोप के होटलों में भी नहीं देखी। तुम्हारे यहाँ ऐसा कोई रजिस्टर नहीं जिसमें तुम लोगों की सर्विस के बारे में यात्री अपनी राय लिखता हो।'

'क्यों नहीं! आपको हमारा खाना पसन्द आया, मेरा काम पसन्द आया, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है।' यह कहकर वह रजिस्टर उठा लायी।

'पर अपना नाम तो बताओ। इस रजिस्टर में जो कुछ लिखूंगा सिर्फ तुम्हारे बारे में लिखूंगा,' ओंकार जी बोले।

अब तो वह महिला और भी गद्गद हो गयी। उसने अपना नाम बताया

और तब से इतनी खातिर-तवाजेह करती है कि स्वयं मुझे ही हैरत होती है,' ओंकार जी ने अपनी बात पूरी की।

नाश्ते से निपट चुकने के बाद हमने पिछले दो दिनों के प्रोग्राम का पता चलाया। ओंकार जी ने बताया कि पहले दिन तो हम सबने कस कर आराम किया और अधिकारी हमें कहीं नहीं ले गये। दूसरे दिन हमने शहर का चक्कर लगाया और बन्दरखाना देखने गये। बन्दरखाना सुखूमी के आश्चर्यों में से एक है।

रूसियों को भारत के साँपों और बन्दरों में हमेशा से ही विशेष रुचि रही है। प्रायः रूसियों ने साँपों के बारे में तो इस ढंग से पूछा है मानो मानवमात्र के ये भयंकर शत्रु भारत के घर-घर में, एक-एक सड़क पर, मिलते हैं। बन्दरों के बारे में भी उन्होंने बड़ी उत्सुकता से प्रश्न पूछे हैं और जब मैंने उन्हें फैजाबाद और अयोध्या के बन्दरों की आँखों-देखी हरकतें सुनायीं तो रूसियों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। ओंकार जी ने बताया कि बन्दरखाना देखना तो मेरे लिए बड़ा 'बोर' साबित हुआ, परन्तु रूसी बन्दरों को देख-देख कर स्वयं बड़े खुश हो रहे थे, उनके साथ कूदते थे, उनकी चीख पर हँसते थे, ज़बानें चटखाते थे। उन्होंने कहा कि बन्दरों के लिए रूसियों की इतनी जिज्ञासा स्वयं आश्चर्य की चीज है।

हम अपनी योजना बना ही रहे थे कि ओंकार जी का एक परिचित (तिबीलिसी का एक रूसी मित्र) वहाँ आया और बोला, "चलिए एक जगह आपको ले चलूं। वहां आप खास काकेशियाई ढंग से कपड़े पहने हुए फोटो खिंचा सकेंगे।"

"पर हमारे पास काकेशियाई कपड़े हैं कहाँ ?" मैंने पूछा।

"आप लोग चलिये तो। अगर फोटो खिंचाना हो तो मैं सारा प्रबन्ध कर लूंगा," वह बोला।

काकेशियाई पोशाक में कौन फोटो न खिंचाता ? हमारा पुरुष-वर्ग उत्तेजित हो उठा और हम तुरन्त केन्द्र के बाहर चले गये।

फोटोग्राफर को ढूंढ़ने में हमें कोई एक घंटे तक सुखूमी नगर की सड़कों की खाक छाननी पड़ी। तब कहीं एक पार्क में हमें उसके दर्शन हुए।

उसने एक परदे पर काकेशियाई पोशाक में एक व्यक्ति का आदमकद तैल-चित्र बना लिया था। बस सिर का स्थान खाली था जिसमें फोटो खिंचाने वाला व्यक्ति अपना सिर डाल कर फोटो खिंचाता था और फोटो ऐसी लगती थी मानो सचमुच उसने ही वह वेषभूषा धारण की हो।

हमने इस व्यक्ति से अनुरोध किया कि वह हमारी फोटो खींचे परन्तु वह फोटो-कापी दो दिन से पहले देने को तैयार न था। इस पर हमने उससे प्रार्थना की कि वह हमें ही अपने अपने केमरों से चित्र लेने की अनुमति दे दे, परन्तु इसके लिए वह राजी न हुआ। हमें स्वप्न में भी यह आशा न थी कि वह हमारे प्रस्ताव को, जिसमें उसकी कोई हानि न थी, ठुकरा देगा। इतना ही नहीं उसकी बातों का लहजा भी बहुत कुछ बदतमीजी की सीमा तक पहुँच गया था। इस पर वहाँ आसपास खड़े हुए कुछ लोगों को उस फोटोग्राफर पर क्रोध भी आया और वे उसे बुरा-भला कहकर फ़टकारने लगे। परन्तु वह जिद्दी किस्म का व्यक्ति था। उसने हमें अनुमति न दी। अब कुछ लोगों ने जैसे तय कर लिया था कि वे फोटोग्राफर को मजबूर करेंगे कि वह हमें ही अपने-अपने केमरों से परदे की फोटो लेने दे, परन्तु हमीं ने उन व्यक्तियों से शिष्ट अनुरोध किया कि हम किसी भी दशा में वहाँ फोटो न लेंगे क्योंकि हमें इस व्यक्ति के व्यवहार से क्षोभ हुआ है। इस पर एक व्यक्ति को कुछ क्रोध आया और वह जाकर एक पुलिस वाले को पकड़ लाया। उसने फोटोग्राफर की शिकायत पुलिसवाले से की। बाद में क्या हुआ यह हमें न मालूम हो सका क्योंकि समयाभाव के कारण हम वहाँ से लौट कर टैक्सी स्टैंड पर टैक्सी की प्रतीक्षा करने लगे थे।

हमें शीघ्र ही दो टैक्सियां मिल गयीं और हम उन पर लद कर पहले शहर की हवाखोरी को और बाद में पहाड़ों की ओर चल दिये।

नगर-वर्णन

यहाँ मैं संक्षेप में सुखूमी नगर की चर्चा करूँगी। यह नगर हमारे यहाँ के कस्बे जैसा है। यहाँ अपेक्षाकृत कम, पर औसत चौड़ाई की, सड़कें हैं। यत्र-तत्र कुछ पार्क हैं। यहाँ मास्को या लेनिनग्राद जैसी अट्टालिकाएँ नहीं

बल्कि एक-एक या अधिक से अधिक दो-दो मंजिल के मकान हैं। मकान का आकार-प्रकार छोटा है और वे हमारे यहाँ के बंगलों जैसे लगते हैं। दूर से मकान बड़े रम्य, बड़े सुन्दर दिखते हैं। यहाँ छोटी-छोटी दूकानें हैं। कुछ यूनिवरमाग (वे बड़ी-बड़ी दूकानें जहाँ भिन्न-भिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न वस्तुएं बिकती हैं) की तरह की बड़ी-बड़ी दूकानें हैं जहाँ अच्छी-खासी भीड़ रहती है। मुझे कुछ रंगीन फिल्में और कुछ ऐसे रूसी रिकर्ड लेने थे जो मास्को में भी न मिल रहे थे। फिल्में न मिलीं, हाँ रिकार्ड जरूर मिल गये। दूकान में हमारे प्रवेश करते ही स्वयं हम भी वहाँ के शो-केस की एक वस्तु बन गये और चारों ओर से लोगों से घिर गये। लोग वहीं बड़ी उत्सुकता से तरह-तरह के प्रश्न हमारे देश के सम्बन्ध में, और विशेष रूप से हमारी साड़ी और बिन्दी के सम्बन्ध में करने लगे। उनमें से एक रूसी महिला कुछ अधिक जिज्ञासु लगी। हमारे दूकान से निकलते ही वह भी बाहर निकल आयी और रूसी में मुझसे पूछने लगी—"मैंने सुना है आपकी यह साड़ी छः मीटर की है।"

"जी हाँ, छः मीटर की है। कभी-कभी पाँच की होती है।"

"तो आप बिना सिये हुए इसे पहनती कैसे हैं?"

"पहनना तो बड़ा आसान है। आप समझ लें तो खुद भी पहन सकती हैं।"

"तो मुझे सिखा दीजिए न। आपके यहाँ आ जाऊँ?"

"शौक से। मैं जिस कमरे में रहती हूँ उसमें चार पाँच महिलाएँ और भी हैं। हम सब आपकी प्रतीक्षा करेंगी।"

खैर, बातचीत का यह सिलसिला बड़ी देर तक चलता रहा। आखिर हम फिर अपनी टैक्सी पर जमे और पहाड़ों के रास्ते नगर की सबसे ऊँची चोटी की ओर चल दिये।

सुखूमी नगर काफी ऊँचाई पर, पहाड़ों के बीचोबीच, बसा है। पहाड़ों पर चौड़ी सड़कें बनी हैं, जिन पर दो टैक्सियाँ मजे से आ-जा सकती हैं। सड़क के दोनों ओर बने हुये मकान हमें अपने देश के हिल-स्टेशनों की याद दिला रहे थे। इन मकानों के चारों ओर हरियाली अपनी पूरी जवानी पर थी।

हरियाली से मेरा मतलब यह नहीं कि मकानों के इर्द-गिर्द बाग-बगीचे या तरतरकारियों के पौधे थे। वस्तुतः मकान प्राकृतिक हरीतिमा से ढके लग रहे थे। मैं मन ही मन इस स्थान की सराहना करती हुई कब पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गयी इसका मुझे पता ही न चला। इस स्थान का नाम था 'फनीकुलर'। यहाँ से हमें नीचे स्थित सुखूमी और पहाड़ों पर बने मकानों का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखायी पड़ रहा था। हम वहाँ बड़ी देर तक चहलकदमी करते रहे और आखिर ऐसे स्थान पर आ गये, जहां कोई सौ सीढ़ियाँ बनी थीं। अन्तिम सीढ़ी चढ़ते ही हम एक बड़े सुन्दर रेस्त्रां में आ गये। यही रेस्त्रां सुखूमी की सबसे अधिक ऊँचाई पर बनी सबसे रमणीक इमारत थी।

अब हम वे सभी स्थान देख चुके थे जो हमारी अनुपस्थिति में मेरे अन्य सहयात्रियों को एक दिन पहले दिखाये गये थे।

सुखूमी नगर काले सागर के तट पर बसा है। फलतः यहाँ का मुख्य मनोरंजन है समुद्र स्नान और तेज दौड़ने वाली स्पीड-बोट। यहाँ तरह-तरह के घाट हैं जहां हजारों नर-नारी एक साथ स्नान करते हैं। उर्मिला ने एक दिन पहले के अपने स्नान की चर्चा करते हुए मुझे बताया कि घाट पर उनका नहाना इसलिए असम्भव हो गया कि लोग जिज्ञासावश उनके आस-पास जमा हो गये और उनकी साड़ी और बिन्दी को कुतूहलवश देखते हुए उनसे तरह-तरह के प्रश्न करने लगे। अतएव उर्मिला इस नतीजे पर पहुँची थीं कि भीड़-भाड़ वाले घाट पर भारतीय औरतों का स्नान करना असम्भव है। इसीलिए उन्होंने लोगों से पूछ-ताछ कर स्नान के योग्य एक ऐसे स्थान का पता चला लिया था जो नगर से कोई चार मील दूर था और बड़ा ही सुन्दर था। हमने उनके इस अनुभव का लाभ उठाया और टैक्सी पर वहीं पहुँच गये।

वस्तुतः यहाँ कोई घाट न थे। हाँ, काले सागर का यह दूरस्थ किनारा स्नान के लिए बड़ा उपयुक्त था। यहाँ भी लोग स्नान कर रहे थे परन्तु उनकी संख्या दस बारह से अधिक न थी। हम छहों भारतीय, लोगों की निगाहों से दूर, स्नान की पोशाकें पहने काले सागर में कूद पड़े।

रूस में काले सागर के स्थान का विशेष महत्व है—धार्मिक नहीं,

स्वास्थ्य सम्बन्धी। अकेले सुखूमी नगर ही में गर्मियों में प्रति दिन कोई पचास हजार व्यक्ति तो नहाते ही होंगे।

सच पूछो तो अपने जीवन में उस दिन पहली बार मैंने समुद्र स्नान किया था। मुझे उर्मिला से यह बात स्वीकार करने में बड़ी झिझक लगी, परन्तु आश्चर्य मुझे तब हुआ जब उन्होंने कहा कि इस मामले में मैं तुमसे एक दिन सीनियर हूँ, क्योंकि मैंने अपने जीवन में पहला समुद्र स्नान कल किया है।

इस स्थान पर मैंने एक विचित्र बात देखी। जिस स्थान पर समुद्री जल किनारे से टकरा रहा था उससे कोई दो-तीन गज की दूरी पर एक गड्ढा था, जिसमें पानी भरा था। कुछ लोग हाथों-पैरों के बल लेट कर उसका पानी पी रहे थे। यह देख कर हम सब को बड़ी घृणा हुई। पानी गन्दा था, फिर भी लोग क्यों उसे पी रहे थे यह मैं न जान सकी।

हम कोई दो-ढाई घण्टे तक समुद्र-स्नान का मजा लेते रहे। उत्सुक निगाहों से दूर, नगर की चिल्ल-पों से बाहर, हमें इस ऐकान्तिक स्नान में सचमुच बड़ा आनन्द मिला। और जब बाहर आये तो पता चला कि यहाँ टैक्सी का मिलना एक समस्या है। हां, बस जरूर मिलती है पर आधे-आधे घण्टे बाद। यहीं, सड़क पर हमने देखा कि एक रूसी दम्पति, अपनी कार में बैठे, जिज्ञासुओं की तरह हमारी ओर देख-देख कर परस्पर कुछ फुसफुसा रहे हैं। प्रत्यक्षतः उन्होंने हमारी मुसीबत समझ ली थी। पर हम थे छः व्यक्ति और उनकी कार पर जगह थी सिर्फ दो की। सौभाग्य से हमें एक टैक्सी आती दिखाई दी और चार व्यक्ति उस टैक्सी पर तथा मैं और मेरे पति उन महोदय की कार पर बैठ गये।

रास्ते भर हमारी इन सज्जन से बातचीत होती रही। वे सुखूमी के ही निवासी थे। उन्होंने मेरे पति से भारत के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये, 'आपके यहाँ भी सुखूमी जैसे रम्य स्थल हैं ?'

"जी हां, हमारा काश्मीर देखिये तो आप सुखूमी भूल जायेंगे।"

"पर क्या वहाँ समुद्री किनारा है।"

"जी नहीं, वहाँ समुद्री किनारा तो नहीं। हाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य यहाँ से अधिक है।"

"मैं तो समुद्री किनारे के नगरों की बात कर रहा था।"

"तो फिर बम्बई का मैरीन ड्राइव देखिये जो सारी दुनिया में विख्यात है।"

फिर मेरे पति ने उन्हें भारत की अनेक विशेषताएँ बतायीं और वे दोनों भारत के सम्बन्ध में इतनी जानकारी प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुए।

स्पीड-बोट

अन्ततः उन्होंने हमें उस घाट पर उतारा जहां से तेज दौड़ने वाली नावें और स्टीमर छूटा करते थे। मैंने इन नावों को हवा से बातें करते हुये सिर्फ सिनेमा के परदे पर देखा था। इन पर बैठने का कभी मौका न मिला था। यहाँ सुखूमी में इन नावों की कोई कमी न थी। सभी नावें सरकारी थीं और उनके किराये भी सरकारी तौर से ही निश्चित किये गये थे। इनका किराया था पांच रूबल (२४ रुपये) घंटा। हमने तुरन्त दो नावें कीं और कोई चालीस मील प्रति घंटे की रफ्तार से समुद्र पर दौड़ने लगे। सर्र से भागने वाली इन नावों में हमें कितना आनन्द आया इसका वर्णन करना आसान नहीं।

स्पीड-बोट हमें कई रास्तों से होकर ले गई और हमने सुखूमी के बीसियों घाट देख डाले। प्रत्येक घाट पर बड़े-बड़े छत्र लगे थे और हजारों व्यक्ति तैराकी पोशाकें पहने समुद्र में तैर रहे थे। हमारी बोट जब किसी घाट से होकर निकलने लगती तो वहाँ स्नान करने वाले लोग हाथ हिला-हिला कर हमारा स्वागत करते। हम भी उत्तर में अपने हाथ हिला देते।

इस बोट-यात्रा में मैंने पानी पर चलने वाली एक साइकिल देखी, जो दो बड़े पहियों पर सधी थी। पहिये मोटर या बैलगाड़ियों जैसे न थे, पर उनमें कुछ-कुछ दूरी पर कोई एक-एक फुट चौड़े, पंखनुमा पटरे लगे थे, जो पानी को काटते हुए साइकिल को आगे बढ़ाते थे। इस यान पर केवल दो व्यक्ति बैठ सकते थे जो हाथों और पैरों से उसे वैसे ही चला सकते थे जैसे आदमी साइकिल चलाता है। इस जल-साइकिल की गति हमारी पैदल-गति से अधिक न थी।

ऐसी प्रायः सभी साइकिलों पर तैराकी पोशाकें पहने, ऊपर से नीचे तक भीगे हुए, लोग बैठे थे। सम्भवतः यह मनोरंजन का साधन थी (चित्र सं० ४)।

अपनी बोट-यात्रा के दौरान मुझे एक पुराना जहाज भी दिखायी पड़ा, जिस पर बुरी तरह मोर्चा लगा था। ड्राइवर ने मुझे बताया कि यह रूसी जहाज युद्ध काल में जर्मनों द्वारा नष्ट किया गया था। इस जहाज के अंजर-पंजर और टूटे-फूटे केबिन आज भी मेरी कल्पना के आगे यह पंक्ति साकार कर रहे थे, "खंडहर बता रहे हैं इमारत बुलन्द थी।"

हमारा एक घंटा कब बीत गया हमें इसका पता ही न चला। आखिर हम बोट से उतर कर घाट के सामने वाले पार्क में आ गये। यहाँ हमने घास काट कर बनाये गये कुछ चित्र और कुछ शब्द लिखे हुए देखे। पार्क के बीचोबीच हमें घास के मध्य दो सफेद सुइयाँ दिखायी दीं। यह सचमुच एक घड़ी थी जो समय बता रही थी। सम्भवतः इसकी मशीनरी घास के नीचे सुरक्षित थी।

हम घड़ी देख ही रहे थे कि हमें भारतीयों-जैसे कुछ चेहरे दिखायी दिये और तुरन्त ही वे व्यक्ति हमारे सामने आकर हमें नमस्कार करने लगे। उन्होंने हमें बताया कि वे नैपाली हैं और मास्को यूनिवर्सिटी में इन्जीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। वे लोग भी हमारी ही तरह काले सागर की यात्रा पर आये थे।

'कन्सर्ट'

आखिर हम सुखूमी की सड़कों का चक्कर लगाते हुए अपने यात्री केन्द्र में आ गये। आते ही हमारा सामना केन्द्र के डाइरेक्टर से हो गया। डाइरेक्टर हमें अपने केन्द्र में देख कर बड़ा प्रसन्न था। वह हमसे तरह-तरह के प्रश्न करके यह जानने का प्रयत्न करने लगा कि हमें उसके यहाँ कोई कष्ट तो नहीं। हमें वहाँ कष्ट ही क्या था? हमारी सबसे अधिक खातिर होती थी। हमारा सबसे ज्यादा ख्याल रखा जाता था। फिर भी डाइरेक्टर को जैसे संदेह था कि हम पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया जा रहा है। अतः उसने रात के 'कन्सर्ट' के समय कोई हिन्दुस्तानी प्रोग्राम रखने का निश्चय किया।

यहाँ यह उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि हमारे केन्द्र में एक खुला स्थान

था जहाँ प्रति दिन रात के समय लोग, अकार्डियन और पियानो की धुन पर, नाचते थे। कभी अधिकारी वहाँ किसी विशेष कन्सर्ट या सिनेमा का भी प्रबन्ध करते थे। आज वहाँ का डाइरेक्टर रात में हमारे मनोरंजन के लिए कोई प्रोग्राम रखना चाहता था। उसने हमारे बारे में न जाने कैसे यह धारणा बना ली थी कि हम जन्म के कलाकार हैं। इस आग में घी डाल दिया ओंकार जी ने। मेरे पति की ओर इशारा करते हुए बोले कि वे बड़ी अच्छी बांसुरी बजाते हैं और अपनी पत्नी की ओर उंगली दिखाते हुए कहने लगे, 'ये मेरी पत्नी हैं, पर ऐसा अच्छा नाचती हैं कि खुद मैं भी थिरक उठता हूं।'

"तब तो आज हमारे प्रोग्राम में जान ही आ जायेगी। आज भारतीय प्रोग्राम ही होगा।"

इतना कहते ही डाइरेक्टर ने अकार्डियन-वादक की ओर मुड़कर कहा, "और तुम इन लोगों के साथ अकार्डियन बजाना। आज हम लोग भी भारतीय कला के दर्शन करेंगे।"

अब हमें काटो तो खून नहीं। कला से हमसे उतनी ही दूरी थी जितनी यहाँ के अकार्डियन-वादक को हिन्दी अनुवाद से हो सकती थी। पेशे से हम लोग प्रायः कलमकार थे। ओंकार जी की पत्नी को नृत्य-कला उतनी ही आती थी जितनी मुझे हानालूलू की भाषा, और बांसुरी मेरे पति उतनी ही अच्छी बजा लेते थे जितनी अच्छी हमारे केन्द्र का डाइरेक्टर हिन्दुस्तानी सारंगी बजा सकता था।

पर अब तीर छूट चुका था। हमें कलाकार बनना ही था। मेरे पति चट से बोल उठे—"जी हाँ, मैं बांसुरी बजाना जानता हूं। पर बांसुरी भारत ही में तरह-तरह की होती है।" और वे अपने रूसी अनुवाद 'अन्धे संगीतज्ञ' में वर्णित बाँसुरी के आधार पर बांसुरी के बारे में न जाने क्या-क्या कह गये। डाइरेक्टर ने भी समझ लिया कि जब मेरे पति बांसुरी की किस्मों के बारे में इतना लेक्चर दे सकते हैं तो निश्चय ही वे कोई उच्च कोटि के बांसुरी-वादक होंगे। परन्तु हमारी खुशकिस्मती थी कि वहाँ एक भी बांसुरी न थी। अब डाइरेक्टर ने मेरे पति से पूछा "तो आप बराबान (एक तरह की ढपली) बजाना भी जानते होंगे क्योंकि बिना इसके बांसुरी की संगत हो कैसे सकती है?"

"हमारे देश में बराबान नहीं चलता। हमारे यहाँ चलता है तबला। तबला बजाना तो मैं कुछ-कुछ जानता हूं," वे बोले।

मेरा अनुभव है कि एक झूठ को छिपाने के लिए आदमी को अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं। सच बात यह थी कि मेरे पति को तबला बजाना भी नहीं आता था, फिर भी उन्होंने डाइरेक्टर को तबले पर लेक्चर दे डाला और जब उसे यह विश्वास हो गया कि वह तबले और बांसुरी की व्यवस्था नहीं कर सकता तो नृत्य का प्रस्ताव करने के लिए उर्मिला की ओर बढ़ा। उर्मिला अपनी जगह सहमी जा रही थीं। मुझे डर था कि अगर उन्होंने यह कह दिया कि मुझे नाचना नहीं आता तो ओंकार जी की लुटिया ही डूब जायेगी।

मेरे पति ने फिर स्थिति संभाली और डाइरेक्टर को तांडव से लेकर झनक-झनक पायल बाजे तक के नृत्य के संबंध में लेक्चर देते हुए बोले कि श्रीमती ओंकार सादे नाच तो नहीं जानती, हाँ भारत के प्रसिद्ध नाच जरूर जानती हैं। परन्तु आज स्नान करते समय वे पत्थर पर ऐसी फिसलीं कि उनके पैर में मोच आ गयी। नाचना तो नाचना उनके लिए चलना-फिरना तक मुश्किल हो रहा है।

अब डाइरेक्टर को भारतीय प्रोग्राम की चिन्ता तो छूट गयी, उसे चिन्ता हो गयी उर्मिला के पैर की। परन्तु मैंने कहा आप चिन्ता न करें ओंकार जी के पास एक तेल है। वे मालिश करके उनकी तकलीफ कुछ कम कर लेंगे। हमने डाइरेक्टर को विश्वास दिलाया कि यदि हमारा दो-एक दिन रहना और होता तो हम जरूर उर्मिला के नृत्य की व्यवस्था कर देते।

तो इस प्रकार हम कलमकारों की पार्टी कलाकार बनने के झंझट से मुक्त हुई। आखिर जब रात के समय हम कन्सर्ट वाले मैदान नें जमे तो क्या देखते हैं कि अकार्डियन-वादक तथा अन्य वादक 'आवारा' और 'चार सौ बीस' चल-चित्रों की धुनें बजा रहे हैं। अकार्डियन-वादक ने गानों को हिन्दी में गाकर भी सुनाया जिसे सुनकर हम सब मुग्ध हो गये और कोई एक घंटे तक भारतीय एवं रूसी संगीत का आनन्द लेते हुए आखिर कोई बारह बजे रात को अपने-अपने कमरों में पहुँचे।

नोवी अफ़ोन

हमें प्रातःकाल अपनी आगे की यात्रा पर अर्थात् 'नोवी अफोन' जाना था। अतएव हम सिवा नाश्ते के सुखूमी में उस दिन और कुछ भी न कर सकते थे। हमने अब तक प्रायः सारा सुखूमी देख डाला था।

वस्तुतः हम अपनी योरोप-यात्रा के बाद इतने थक गये थे कि हम पूर्णतः विश्राम करना चाहते थे। मास्को में हमें बताया भी यही गया था कि काले सागर के तट की हमारी यात्रा में हमें विश्राम अधिक मिलेगा। सुखूमी में हमने अपने केन्द्र में बड़े-बड़े शब्दों में यह लिखा देखा भी था, 'सैर-सपाटा ही सबसे अच्छा विश्राम है।'

परन्तु पहले दिन का अनुभव हमें कुछ उल्टा ही हुआ। हमें तनिक भी विश्राम न मिला था। अतएव हमने अपने अगले पड़ाव पर पूरी तरह विश्राम करने का निश्चय किया।

हमारी बस को ठीक दस बजे चलना था, परन्तु हमें कुछ देर हो चुकी थी, अतएव हम कोई पौने ग्यारह बजे दिन में ही अपनी यात्रा पर निकल सके। और जैसे ही हमने सुखूमी की सीमा पार की कि हमारी बस ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के साथ-साथ बनी हुई सड़कों पर से, सर्पिल गति से, गुजरने लगी। हमारे चारों ओर का दृश्य प्रकृति की हरीतिमा और पर्वतों की गरिमा में डूबा हुआ था। यद्यपि हमने कई बार पहाड़ी प्रदेशों की यात्रा की थी, परन्तु सच बात यह थी कि हमने प्रकृति को इतने सुन्दर रूप में कभी न देखा था। एक ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ आसमान की छत छूने का प्रयत्न कर रहे थे, तो दूसरी ओर काला सागर हहर-हहर कर गरज रहा था। समुद्र और पर्वतों के बीच की पट्टी ही हमारा मार्ग थी। हमारी सड़क मिनट-मिनट पर घूमती-मुड़ती आगे बढ़ रही थी। हमारी बस का ड्राइवर ऐसी सड़कों पर बस ले जाने में पूरा उस्ताद था। इस समय हमें काठगोदाम से नैनीताल तक की अपनी बस यात्रा की याद आ रही थी—वैसे

ही ऊँचे-ऊँचे पहाड़, वैसी ही साँपिन जैसी सड़कें, दाहिनी ओर को वैसे ही नरक जैसे खड्ड। अन्ततः कोई एक घंटे पश्चात् हम नोवी अफोन के यात्री केन्द्र पर आ गये। जब हम लोग बस से उतर कर केन्द्र के फाटक से भीतर आये, तो अपने सामने स्त्री-पुरुषों की एक कतार खड़ी देखी। हम भी कतार में खड़े हो गये। हमारे सामने की कतार उन लोगों की थी, जो नोवी अफोन में निश्चित अवधि तक रह चुकने के पश्चात् 'पित्सुंदा' जा रहे थे। दोनों पंक्तियों के आमने-सामने खड़े हो चुकने पर केन्द्र के एक कर्मचारी ने नारा लगाया—'हमारे नये मेहमान' और दूसरी कतार वालों ने उत्तर दिया 'स्वागत है तुम्हारा।' इस प्रकार यह नारा कई बार लगता रहा। फिर कर्मचारी ने नारा लगाया 'हमारे जाने वाले मेहमान!' और नये मेहमानों की पंक्ति ने एक स्वर से कहा, 'तुम्हारी यात्रा सफल हो!' यह नारे बड़ी देर तक लगते रहे। एक दल केन्द्र से जा रहा था तो दूसरा नया दल आ रहा था। दोनों दलों के लोग हर्ष-विह्वल थे, उत्तेजित हो-होकर थिरक रहे थे।

आखिर आगे जाने वाले यात्री हमारी बस में बैठ कर अपने रास्ते गये और हम केन्द्र में आ गये। यहाँ कर्मचारियों ने हमें रहने के लिए जगहें दीं और हम अपने-अपने खेमों में जम गये।

यहाँ मैं यात्री-केन्द्र और नोवी अफोन के सम्बन्ध में कुछ कह देना उचित समझती हूँ।

नोवी अफोन ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों और समुद्र के बीच बसा हुआ एक अति रमणीक स्थान है। यह एक गाँव जैसा है—पक्के पर छोटे-छोटे और सुन्दर मकान, चौड़ी पक्की सड़कें, सड़कों के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे तिकोने वृक्ष, पत्तियों से लदे हुए। सारा नोवी अफोन प्रकृति का साकार स्वरूप लग रहा था। इसी रमणीक स्थल पर, समुद्र के ठीक सामने, हमारा यात्री केन्द्र था, जिसे विशेष रूप से यात्रियों की सुविधाओं की दृष्टि से बनाया गया था। केन्द्र में यात्रियों के रहने की व्यवस्था केवल खेमों में थी। हर खेमे में चार-चार पलंग थे और वहाँ चार-चार यात्री एक साथ टिकाये जाते थे। मैंने इस प्रकार का शिविर जीवन कभी नहीं व्यतीत किया था। इस बार यह तजुर्बा भी होगा—इस विचार ने

ही मुझे उत्तेजित कर दिया था। सारे यात्री केन्द्र में हरियाली ही हरियाली नजर आती थी—ऊँचे-ऊँचे सायादार वृक्ष, तरह-तरह की लताएँ, कदली के बड़े-बड़े पेड़, जमीन पर कालीन की तरह बिछी हुई घास, और पेड़ों की साया में खड़े हुए कोई सौ खेमे एक-दूसरे की सीध में बिछे हुए थे।

केन्द्र में एक ओर ऊपर पहाड़ों से उतरता हुआ एक मनोरम सोता था जिसका पानी केन्द्र में आते-आते जमीन पर चौरस बहने लगा था। इस सोते की भी एक निराली शान थी। सोते के किनारे कुछ यात्री कपड़े धो रहे थे या पैर पानी में ड़ाले जल की ठंढक का आनन्द ले रहे थे।

प्रवेश द्वार के पास ही दाहिनी ओर एक खुला और पक्के फर्श का मंच था जिस पर रात्रि के समय लोग मिलजुल कर नाचते थे। मंच के पास ही यात्रियों की सुविधा के लिये एक पुस्तकालय और केन्द्र के कार्यालय थे।

केन्द्र के अधिकारियों ने हम भारतीयों के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार किया। यहाँ के डाइरेक्टर ने हमें सारी सुविधाएं देने का वचन दिया और जब उसे मालूम हुआ कि हम लोग मांस-मछली को इसलिये नहीं छूते कि हमारा धर्म हमें इसकी आज्ञा नहीं देता तब तो उसने बड़ी उत्सुकता से हमारे खाने-पीने के बारे में पूछताछ की और हमें वचन दिया कि वह हमें पूर्णतः शाकाहारी भोजन देने की व्यवस्था करेगा। डाइरेक्टर बड़ा रसिक था। भारतीय संगीत पर तो मुग्ध ही था। उसने बताया कि हम लोग सबसे अधिक भारत की, फिर मिस्र की और उसके बाद चीन की संगीत ध्वनि और चलचित्र पसंद करते हैं। उसने भारत के तीन नामों का विशेष उल्लेख किया—बाबू राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू और अजय घोष। उसने हमें यह भी बताया कि पं० नेहरू सुखूमी और सोची तक आये थे पर नोवी अफोन न आ सके, अन्यथा उन्हें हमारा स्थान सबसे अधिक पसन्द आता।

इस प्रकार हम भारत से हजारों मील की दूरी पर बैठे हुए अवखास जनतंत्र के एक प्रतिनिधि की जबानी अपने देश और अपने नेताओं की प्रशस्ति सुनते हुए गर्व का अनुभव करते रहे।

हमने पासपोर्ट आदि की औपचारिकताओं से निपटकर कुछ देर तक

अपने खेमों में विश्राम किया। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि डाइरेक्टर ने भारतीय पुरुषों को एक ही खेमें में रखा था ताकि उन्हें कोई असुविधा न हो। हम महिलाएं पास के अन्य खेमे में थीं। हमारे खेमे में दो रूसी महिलाएं और थीं, जिन्होंने हमसे घनिष्ठता बढ़ा ली थी।

डाइरेक्टरों ने भोजनालय के प्रमुख रसोइये को निर्देश दिये कि हमें शुद्ध शाकाहारी भोजन दिया जाय।

काला सागर हमारे यात्री केन्द्र के एकदम सामने था और यहीं सैकड़ों व्यक्ति स्नान करते थे। सुखूमी में समुद्र स्नान के लिए हमें कोई चार मील का चक्कर लगाना पड़ा था, अतएव यहाँ अपने सामने ही समुद्र का हहराना सुनकर हमें अनिर्वचनीय प्रसन्नता हुई। हम अपनी सेना लेकर सागर की ओर चल पड़े।

सागर तट पर अच्छी-खासी भीड़ थी, परन्तु हमने अपने लिए पास ही में एक शान्त कोना ढूँढ निकाला। हम सभी के पास तैरने की पोशाकें थीं। किन्तु इसके यह अर्थ न थे कि हमें तैरना आता था। हमारे सारे दल में तैरना आता था अकेले ओंकार जी को। हाँ तैराकी पोशाकें पहन लेना हम सभी जानते थे। सो हमने ये पोशाकें पहनीं और समुद्र में कूद पड़े।

इस स्थल पर मैं रूसियों के समुद्र स्नान के संबंध में भी दो चार शब्द कह देना चाहती हूं। रूसी गर्मी में समुद्र स्नान के स्वप्न देखता है; और इसके प्रत्यक्ष कारण हैं। मैंने कभी छोटी कक्षाओं में पढ़ा था कि समान 'पोल' एक दूसरे से दूर भागते हैं और असमान निकट आते हैं। यहाँ मैंने व्यवहारिक रूप से उसे घटित होते देखा। रूसी का चमड़ा गोरा होता है इसीलिए उसे काले लोगों, काले चमड़े से प्यार है, बेहद प्यार है। रूसी औरतें काले लोगों, और खास कर भारतीयों से, जो तवे की तरह काले नहीं होते, ब्याह करने के लिए मछली की तरह तड़पती हैं। मैंने ऐसे कई ब्याह अपनी आँखों से देखे हैं और कई की गाथाएँ सुनी हैं। अपनी गुराई झाड़ने के लिए रूसी यथासाध्य सभी कुछ करने को तैयार रहते हैं। प्रत्येक रूसी अपनी गुराई को गेहुँए रंग में बदलना चाहता है और इसके लिए वह गर्मियों में समुद्र तट पर जाता है, समुद्र में स्नान करता है और सिर चिटका देने वाली धूप में पड़ा रहता है।

मैंने सुखूमी में, और यहाँ भी, रूसियों को अपना शरीर धूप से झुलसाते हुए देखा है। जी हाँ, शरीर झुलसाते हुए। रूसी घंटों नहाता है—घर में तो वह छठे-छमाही ही नहाता है—फिर आकर सख्त धूप में घंटों लेटता है (चित्र सं० ३) मैंने सैकड़ों रूसियों को समुद्री किनारे की जलती हुई बालू में अपने शरीर को दबाकर भी घंटों पड़े रहते देखा है। इन काले बनने के प्रेमियों से मैंने बातें की हैं, उनके बदन को छू-छू कर देखा है। मेरी समझ से यह भी एक तपस्या है। रूसी इस तपस्या को आराम करना कहता है। वह प्रति वर्ष एक महीने की छुट्टी में इसी प्रकार का आराम करने प्रायः समुद्र तट पर पहुँचता है। मैंने रूसियों का यह आराम पहली ही बार देखा था। और सचमुच कुछ दिनों बाद उनके बदन भारतीयों जैसे गेहुएँ हो जाते हैं। बातचीत के दौरान में मुझे इन रूसियों ने बताया कि धूप से झुलस जाने के कारण उनके अंगों में पीड़ा होती है, चिटखन होती है, उनकी ऊपरी खाल फट कर उतरने लगती है और वे झुलस कर गेहुँए हो जाते हैं। शरीर को झुलसाना जैसे उनके जीवन की साध होती है। इस प्रकार शरीर झुलसाने से वैज्ञानिक दृष्टि से भी उन्हें बड़ा लाभ रहता है। रूस के अधिकांश स्थानों में, जैसे मास्को या और भी उत्तर के स्थानों में, महीनों सूर्य के दर्शन नहीं होते। फलतः ठंड से उनकी नसें सिकुड़ जाती हैं। नसों को अपनी प्राकृतिक अवस्था में लाने और धूप से मिलने वाले लाभों का जाड़ों के लिए संचय करने के निमित्त समुद्र स्नान उनके लिए अति आवश्यक है। जो रूसी समुद्र स्नान की व्यवस्था नहीं कर सकता वह किसी गर्म स्थान में जाकर ही धूप खाने का प्रबन्ध कर लेता है।

परन्तु रूस के डाक्टरों ने हम भारतीयों को अपने शरीर झुलसाने के लिए पहले ही मना कर दिया था। कारण यह था कि हमारे देश में धूप का कभी अभाव नहीं रहा। धूप हमारी नस-नस में इतनी समा चुकी है कि रूसियों की तरह अपने शरीर को झुलसाने से हमारी नसों के फट जाने का अन्देशा है।

फलतः हम सभी ने पहले ही तय कर लिया था, कि हम पानी से निकल कर देर-देर तक समुद्री किनारे पर न बैठेंगे। हम सभी ने, प्रायः सभी जगह, अपने ऊपर स्वतः लगाये गये इस प्रतिबन्ध का पालन किया। बेशक हम

लगातार तीन-तीन चार-चार घंटे नहाये, परन्तु पानी से बाहर कम ही रहे, फिर भी हमारी गरदनें और पीठ के ऊपरी भाग में चिटखन होने लगी क्योंकि शरीर के ये अंग प्रायः पानी के बाहर और धूप में रहते थे। यहीं मैं यह कह दूं कि जुलाई के महीने में काला सागर के तट पर इतनी सख्त गर्मी पड़ती है कि हम गर्म देश के निवासी तक व्याकुल होकर छटपटाने लगते थे। मैं तो कह सकती हूँ कि यहाँ की गर्मी हमारी मई-जून जैसी थी, अन्तर केवल इतना ही था कि हमारे देश में लू चलती है और यह प्रदेश उससे मुक्त रहता है।

नोवी अफोन में पहले दिन हम खूब छक कर नहाये। कौन जाने जिंदगी में काले सागर में स्नान करने का दुबारा मौका मिले या न मिले। अतएव इस हाथ आये अवसर से हम पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहते थे, और सच बात तो यह है कि हमने पूरा लाभ उठाया भी।

पहले दिन हमें पूरी छूट थी। केन्द्र की ओर से किसी प्रकार के प्रोग्राम की कोई व्यवस्था न थी। हमसे सिर्फ आराम करने को कहा गया था। अतः नहाने-खाने के बाद जो हम चारपाई पर पड़े तो शाम को पूरे सात बजे जगे। जगने पर किसी ने बताया कि पाँच बजे कुछ लोग (भारतीय नहीं क्योंकि वे सब घोड़ा बेंच कर सो रहे थे) एक बड़ी मोटर बोट (एक प्रकार के जहाज) से डेढ़ घंटे की यात्रा पर चले गये हैं। हम सभी लोग मास्को में इस प्रकार के जहाजों पर पचासों बार यात्रा कर चुके थे, अतएव हमें अपने सोये रह जाने का कोई खेद न हुआ।

साढ़े सात बजे हम मुंह-हाथ धोकर यात्री केन्द्र के बाहर निकल ही रहे थे कि देखा मंच पर हमारे रूसी सहयात्रियों का दल जमा है और एक गाइड उन्हें नोवी अफोन का इतिहास समझा रही है। हम भी चुपके से उसी दल में सम्मिलित हो गये।

मैं इस छोटी-सी बस्ती का इतिहास, बहुत संक्षेप में, यहाँ देना चाहूँगी।

संक्षिप्त इतिहास

आज जिस स्थान पर नोवी-अफोन की बस्ती है वहाँ छठी शताब्दी में अन्नाकोपिया नाम का एक नगर था। व्यापार, कला और संस्कृति की दृष्टि से

इस नगर का विशेष महत्व था। यहाँ आकू (जिसका अर्थ है दुर्ग) नाम का एक पर्वत था जो नगर के लिए सचमुच एक दुर्ग था क्योंकि तीन ओर से दुश्मन उस पर इसलिए हमले न कर सकते थे कि यहाँ के ऊँचे-नीचे दर्रे और नर्कवत् खड्ड पार करना उनके बूते को बात न थी। चौथी दिशा में अर्थात् समुद्र के सामने उन्होंने एक मजबूत दीवाल बना रखी थी। फिर भी इस नगर पर इस चौथी दिशा से बराबर आक्रमण होते रहे। आक्रमणकारियों में मुख्य थे इतालवी और यूनानी। इन लोगों ने इस नगर को नष्ट ही नहीं किया, यहाँ अपने धर्म और प्रथा के अनुसार कुछ निर्माण-कार्य भी किया। परन्तु १६वीं से लेकर १८वीं शताब्दी तक यहाँ तुर्कों के हमले हुए और उन्होंने इस छोटे से नगर की ईंट-से-ईंट बजा दी। नगर पूर्णतः ध्वस्त हो गया। इसका नाम तक खोद कर फेंक दिया गया।

आखिर उस नगर के स्थान पर फिर से एक छोटी-सी बस्ती बसायी गयी, जिसका नाम रखा गया 'प्तिरत्स्खा', जो अन्ततः बदल कर नोवी अफोन हो गया।

गाइड ने हमें नोवी अफोन की उत्पत्ति के विषय में एक दिलचस्प दास्तान सुनायी। उसने बताया कि यूनान के एक धर्मभीरु प्रदेश में अफोन नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी में कोई बीस मठ थे। धर्मभीरु नर-नारी इस स्थान को बड़ा पवित्र स्थान समझ कर यहाँ प्रायः दर्शनार्थ आया करते थे। इसी अफोन में सन् १०८० ई० में पन्तोलियोन नामक एक रूसी मठ की स्थापना की गयी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में तुर्की में रूसी राजदूत इग्नात्येव के उद्योग से पन्तोलियोन मठ के कुछ लोग प्तिरत्स्खा बस्ती में एक मठ की स्थापना के लिए भेजे गये और यह घोषणा की गयी कि इस मठ के जो व्यक्ति भी यहाँ आकर बसना चाहें वे इच्छानुसार जगह चुनकर रह सकते हैं। इस स्थान पर प्रकृति की निराली छटा थी ही। अतएव यहाँ यूनान के अफोन स्थान से लोग आकर बस गये। इसीलिये १८७५ ई० में पुरानी प्तिरत्स्खा बस्ती का नया नाम पड़ा नोवी अफोन। १८८८ ई० में यहाँ एक मठ बनना आरम्भ हुआ, जिसके शिलान्यास के अवसर पर रूस का जार कोई ७०० व्यक्तियों सहित आया। यही कारण था कि नोवी अफोन की प्रसिद्धि सारे रूस में हो गयी और

चूंकि इस स्थान का नाम यूनान के प्रसिद्ध स्थान अफोन के नाम पर रखा गया था, जहाँ रूसी लोग पन्तोलियोन मठ के दर्शनार्थ पहुँचते थे, अतएव धार्मिक व्यक्ति इसी नयी बस्ती को अपना मक्का मदीना समझने लगे, और यूनान तक की यात्रा करने के बजाय यहीं आने लगे। कालान्तर में यह बस्ती रूस की धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक केन्द्र बन गयी। १९०२ ई० में यहाँ एक जल-विद्युत स्टेशन बनाया गया जो रूस के पहले कुछ पनबिजलीघरों में से एक था।

२ मार्च १९२१ ई० को धर्म और अधर्म का संघर्ष छिड़ा। रूस की लाल सेना ने धर्म के विरुद्ध संघर्ष छेड़ कर यहाँ के मठाधीश को सत्ताविहीन करके सोवियत राज्य की स्थापना के लिए युद्ध किया और मठाधीश लाल सेना से हार कर फ्रांसीसियों के जहाज में बैठ कर भाग गया तथा ४ मार्च १९२१ को नोवी अफोन पर सोवियत राज्य का झंडा लहराने लगा।

मैंने यहाँ उस मठ को देखा जिसके शिलान्यास के अवसर पर रूसी जार उपस्थित था। कभी यह मठ धर्म का केन्द्र था, जिससे खिंचकर रूस भर के धार्मिक व्यक्ति आया करते थे। आज वह मठ एक गिरजा है, सिर्फ कौतूहल की चीज, जिसे देखने के लिए हम जैसे यात्री जाते हैं। यह एक बड़ा-सा मठ है, जिसकी दीवालों और छतों पर तरह-तरह के धर्म चित्र बने हैं, परन्तु उन सब का सूक्ष्म चित्रण करना अनावश्यक है। आज इस गिरजे की विशाल इमारत में आराम गृह (एक प्रकार का सैनेटोरियम) है जहाँ कोई ६०० व्यक्ति आराम करते हैं और निश्चिन्त रहते हुए स्वास्थ्य लाभ करते हैं।

मैंने इस छोटी सी बस्ती का चप्पा-चप्पा देखा है। यहाँ मुझे कुछ चीजें बड़ी पसन्द आयीं—सबसे अधिक वह पार्क, जो यात्री केन्द्र के बिल्कुल सामने समुद्री तट से मिला हुआ है, दूसरा स्वयं केन्द्र और तीसरा समुद्र तट पर बना हुआ एक सुन्दर-सा पुल।

यह कह देना अनुचित न होगा कि मैंने भारत, योरोप और सोवियत संघ के अनेक बड़े-बड़े पार्क देखे हैं, परन्तु जितना सुन्दर नोवी अफोन का पार्क था, उतने सुन्दर पार्क बहुत कम देखने को मिलेंगे (चित्र सं० १)। पार्क में ऊँचे-ऊँचे सायादार वृक्ष तरह-तरह के फूलों के पौधे, इधर-उधर इठलाती हुई लताएँ,

सर्पिल गति से बढ़ती हुई एक रमणीक झील, झील पर बने हुए दो पुल, पुल के पास द्वीप की भाँति जल के बीचोबीच बना हुआ एक रेस्त्राँ, एक तड़ाग, तड़ाग के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और बीच में वृक्षों और लाल-लाल फूलों का झुरमुट—ये सभी चीजें जैसे बड़ी दिव्य लग रही थीं।

पार्क से ठीक बाहर समुद्र में दूर तक चला गया एक पुल है, जिस पर चहलकदमी के लिए प्रायः सारा नोवी-अफोन और वहाँ आये हुए सारे यात्री आते हैं। पुल के उस पार दूर-दूर तक फैला हुआ अनन्त काला सागर है। पुल पर खड़े होते ही मनुष्य जैसे कल्पना की दुनिया में खो जाता है। पुल के नीचे जाने के लिए कुछ सीढ़ियाँ और सीढ़ियों के अन्त में एक बड़ा-सा मंच है। नोवी-अफोन आने वाले जहाज और मोटर बोटें इसी मंच पर आकर लगती हैं और यहीं से यात्री चढ़ते-उतरते हैं। यह पुल नोवी अफोन की शान है।

पहाड़ की चढ़ाई

नोवी-अफोन के यात्री केन्द्र में हमें मालूम हुआ कि उन यात्रियों को, जो एक 'पुचोव्का' के लिए निर्दिष्ट सारी यात्रा में लगभग ८० मील पैदल चलते है, सोवियत संघ की ओर से एक-एक पदक दिया जाता है। रूसियों तथा हम जैसे अन्य यात्रियों के लिये पदक का लालच कम नहीं होता। प्रत्येक केन्द्र में यात्रियों को पैदल चलाने के लिए विशेष व्यवस्था होती है। मुझे यात्रा भर में ८० मील चलना असम्भव-सा लग रहा था, परन्तु हममें साहस की कमी न थी। अतएव मैं इस पद-यात्रा के विवरण मालूम करने के निमित्त केन्द्र-कार्यालय में पहुँची। कार्यालय वालों ने मुझे बताया कि पद-यात्रा ठीक सायंकाल पाँच बजे आरम्भ होगी और इच्छुक यात्रियों को वहाँ के पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर पड़ाव डालना होगा।

सबसे ऊँची चोटी कितनी ऊँचाई पर है, रास्ता कितनी देर का है, कैसा है, आदि कुछ प्रश्न ऐसे थे जो हमारे मस्तिष्क को बराबर मथ रहे थे। मेरे साथ मेरे पति और पुत्र भी थे। हम पहाड़ों पर चढ़े जरूर थे परन्तु कभी ऐसा भय न लगा था।

हमें बताया गया है कि हर व्यक्ति को पीठ पर लटकाने वाले थैले में एक

एक कम्बल, एक-एक मग, दो समय खाने का कच्चा सामान और कुछ अन्य जरूरी चीजें अपने साथ ही ले जानी होंगी। यद्यपि हमें चढ़ाई विषयक कोई भी बात ठीक-ठीक नहीं मालूम हो सकी थी, फिर भी हमने हिम्मत की और हमारे सारे भारतीय चलने को उत्सुक दिखाई पड़ने लगे। यह बात दूसरी थी कि उनका दिल धुकुर-पुकुर कर रहा था।

हमारे पदयात्रा-दल को पाँच बजे कूच करना था। कोई चार बजे हमें बताया गया कि सभी पुरुष यथासम्भव काले पैजामे और कोई गन्दी सी कमीज पहन कर चलेंगे। उन्हें पीठ पर लादने का थैला, कम्बल, चढ़ाई वाला जूता और मग कार्यालय से लेना होगा। हम पहाड़ की चढ़ाई के इन्तजाम से तो आये न थे। साथ ही तेनसिंह बनने की भी हमारी कोई इच्छा न थी। इस क्षेत्र में मेरा अनुभव बिल्कुल शून्य था, मेरे पति और पुत्र के पास तो लकलकाते हुए पैंट तथा नाइलॉन की कमीजें थीं। दूसरे कपड़े थे ही नहीं। दोनों अपना एक-एक सूट डाट कर पहाड़ पर जाने को उद्यत हो गये। उन्हें इस वेश में देखते ही मेरे दल के अन्य लोगों तथा गाइड ने उन्हें समझाया कि वे अपने कपड़े बदल लें और कोई रंगीन या काला पैंट और मामूली सी कमीज पहन लें। परन्तु जब उन्हें मालूम हुआ कि ऐसे कपड़े उनके पास नहीं हैं तो एक रूसी सज्जन ने मेरे पति को अपना काला पैजामा दिया और केवल बनियाइन पहन कर चलने की सलाह दी। जूतों के लिये हम कार्यालय देर से पहुँचे। वहाँ सभी जूते छँट चुके थे, अतः जो जूते हमें मिले थे वे बिल्कुल थर्ड क्लास और नीचे से फटे थे। इतने रद्दी जूते हमने अपने जीवन में कभी न पहने थे। ये जूते बाटा के किरमिची जूतों की तरह थे।

हाँ, तो चलने के कुछ ही पहले पीठ पर लटकाने वाला एक-एक थैला और एक-एक कम्बल बाँटा गया। इनकी शकल-सूरत भी अजीब खूसट थी। इन्हें देखते ही हमारी तो नानी मर गई। पहाड़ पर अपना ही शरीर नहीं खिंचता, ऊपर से यह बोझ—यही विचार हमारे दिमाग को मथे डाल रहा था। परन्तु ठीक इसी समय मेरे दल के एक भारतीय मित्र, महेन्द्र शुक्ल, मेरी सहायता को आ गये। उन्होंने मेरा कम्बल और मेरे फलों का झोला अपने

थैले में रख लिया और मैं मुक्त हो गई । इस चढ़ाई की भूमिका देख-देख कर मैं तो समझ रही थी कि मुझे एवरेस्ट पर चढ़ना होगा और रास्ते में पता नहीं क्या हो—जा सकूँ, रास्ते ही में पड़ी रहूँ या वापस नीचे आ जाऊँ ।

ठीक सवा पाँच बजे बिगुल बजा और हम सब केन्द्र के मंच पर इकट्ठा होने लगे । सभी जाने वालों को एक पंक्ति में खड़ा किया गया । हमारे गाइड ने हम सब की गणना की । पर्वतारोहियों की कुल संख्या ३२ थी । सभी के मनों में विचित्र-सी उत्तेजना थी । सभी जाने के बड़े उत्सुक थे । पर्वतारोहण की पोशाकें पहनें हुए लोग ऐसे लग रहे थे मानों लाम पर भेजे जा रहे हों । हाँ, मैं बराबर अपनी रेशमी साड़ी में रही । मुझे लोगों ने समझाया भी था कि पहाड़ के पत्थर और काँटे हर राही का आँचल ऐसा पकड़ते हैं कि उनसे पिंड छुड़ाना भी समस्या हो जाती है । परन्तु मैंने एक साड़ी इस पर्वतारोहण को अर्पित कर देने की जैसे ठान ही ली थी । श्रीमती ओंकार ने अक्लमन्दी की थी । उन्होंने किसी रूसी महिला का एक साया झाड़ दिया था, जिसमें वे पूरी अंग्रेज लग रहीं थीं ।

हाँ, तो पहले तो गाइड ने हमें रूसी में कुछ लेक्चर पिलाया, फिर राइट-अबाउट टर्न हुआ और अन्ततः अकार्डियन पर वह धुन बजी जो प्रायः कूच के समय बजती है ।

हम ठीक पौने छः बजे दो-दो की एक लम्बी सी कतार में, लदे फंदे (मैं कह ही चुकी हूँ कि हम भारतीय महिलाएँ बोझ से मुक्त थीं) तेनसिंह बनने चल दिये । (तेनसिंह एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने वाला दुनिया का पहला व्यक्ति है ।)

यहाँ मुझे एक बात का विशेष अनुभव हुआ । केन्द्र के बाहर निकलते ही हममें एक अजीब सी स्फूर्ति, अजीब सी प्रफुल्लता आ गयी थी । हमारे साथी पंचम स्वर में गा रहे थे । हम भी मगन मन रूसी गाने का आनन्द लेते हुए चल रहे थे । कोई दो मिनट की सड़क यात्रा के बाद चढ़ाई आरम्भ हो गयी और हम सड़क को जैसे अन्तिम नमस्कार कर चढ़ाई पर हो लिये । आरम्भ में तो हमें बड़ी ही थकान लगी, अतः कोई पाँच मिनट की चढ़ाई के बाद ही हमने आराम करने का निश्चय किया । मैं मन ही मन सोच रही थी—हे भगवान

अगर पाँच-पाँच मिनट बाद पड़ाव पड़ेंगे तो आखिरी पड़ाव की नौबत आयेगी भी या नहीं। मुझे लज्जा आ रही थी यह देख-देख कर कि दूसरों की पीठों पर तो बोझ है और मैं खाली हाथ चल रही हूँ। मेरे पति और ओंकार जी बोझ के कारण हाँफने लगे थे। मैंने उनका बोझ अपने कंधे पर लादने का भी प्रस्ताव किया, परन्तु उसे बड़ी शिष्टता के साथ ठुकरा दिया गया। मुझे अपने अलावा सभी जीवट के लोग लग रहे थे। परन्तु मुझे फिर भी सन्तोष था—यही कहाँ का थोड़ा है कि मैं किसी पहाड़ की चोटी पर चढ़ रही हूँ। मेरे लिए तो यह एक ऐतिहासिक घटना थी। परन्तु यहाँ मुझे एक बात का और अनुभव हुआ—मैं जितनी ही आगे चढ़ती थी, थकान उतनी ही पीछे भागती थी। अतएव हमने कोई पौन घंटे बाद दूसरी बार आराम करने की ठानी और ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से घिरे हुए एक चौड़े से पथरीले स्थान पर जम गये। हम यहाँ आराम कर ही रहे थे कि एक खच्चर वाला उधर से होकर निकला। हमारे दल के लोग उसकी ओर ऐसे लपके मानों स्नोमैन (यती) से भेंट करने जा रहे हों। आखिर उन्होंने खच्चर को यों हथिया लिया जैसे विरासत में मिला हो। पेड़ों से घिरी पहाड़ी भूमि में, चढ़ाई के कपड़े पहने, पीठ पर बोझ सँभाले, सिर पर खुरासानी हैट लगाये, गधे-जैसे खच्चर पर बैठ कर फोटो खिंचाने के लिए हमारा सारा दल जैसे आतुर हो उठा। सभी यात्री इसके लिए उतावले हो उठे। लोगों ने खच्चर वाले से मजाक-मजाक में यह भी कहा कि "दोस्त, तुम्हारे खच्चर की किस्मत बड़ी बुलन्द है कि हम उस पर फोटो खिंचा रहे हैं।" किन्तु खच्चर वाला बड़ा मीठा, लेकिन खुर्राट था, बोला, "बेचारा अभी-अभी ऊपर सीमेंट पहुँचा कर आया था। सोच रहा था कि किस्मत अच्छी है, बोझ उतर गया, पर बेचारे को क्या पता था कि यहाँ उसे सीमेंट से भी भारी बोझ लादना होगा। सब किस्मत की बात है प्यारे!"

कुछ भी हो हम लोगों ने खच्चर पर बैठ-बैठ कर खूब फोटुएँ खिंचायीं। इनमें से अंग्रेज महिला श्रीमती ओंकार की भी एक ललित फोटो है।

हमारे इसी पड़ाव पर कोई एक हजार साल पुराना एक दुर्ग सा बना था। उसे लोग कहते दुर्ग थे परन्तु वह था पत्थर का एक कमरा ही। हाँ

उसकी टूट-फूट और उसके पत्थरों की प्राचीनता से यह जरूर लगता था कि उसने मनुष्य की पन्द्रह-बीस पीढ़ियाँ तो देखी ही होंगी।

यहीं हमारी मुलाकात एक अन्य यात्री दल से भी हो गयी जिसकी गाइड से हमारा एक दिन पहले का परिचय था। यह गाइड इस पहाड़ की चुहिया थी। उसने मुझे बताया कि वह आज कोई तीस बार इस पहाड़ से चढ़-उतर चुकी है। "तीस बार ?" मैं इस तीस की संख्या पर मन ही मन आश्चर्य प्रकट कर रही थी।

"तो अभी हमें और कितना चलना है ?" मैंने पूछा।

"आप दो तिहाई से अधिक चढ़ आये हैं। अब तो सिर्फ पन्द्रह मिनट का रास्ता रह गया है।"

"अरे, पन्द्रह मिनट का ?" मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी।

और सचमुच हम पन्द्रह मिनट की चढ़ाई के बाद पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गये। यहाँ दूसरे दल की हमारी परिचिता गाइड पहले से ही पहुँच गयी थी। सबसे ऊँची चोटी पर एक बहुत पुराना गिरजा था, जिसकी दीवालें तक बुरी तरह ध्वस्त हो चुकी थीं। इस गिरजे ने अपने जमाने के कितने उतार-चढ़ाव देखे थे यह कह सकना मुश्किल था। यहाँ ईसाई धर्म के कितने ही चिह्न दीवाल पर खुदे थे। हमारी गाइड इन सभी चिह्नों के बारे में देर तक लेक्चर देती रही। गिरजे के भीतर ही एक छोटा सा कक्ष था, जिसमें ईसा की मूर्ति, कुछ चित्र और कुछ ताजे फूल रखे थे। गाइड ने हमें बताया कि यहाँ मठाधीश स्वयं प्रार्थना करता था। इस स्थान पर लाखों के हीरे-मोती जड़े थे। जब १९२१ ई० में सोवियत सेनाओं ने नोवी अफोन पर कब्जा किया तो मठाधीश सारे जवाहरात अपने साथ लेकर भाग गया था।

गिरजे के पास ही एक कमरे में एक बुढ़िया रहती थी, जो अपने आराध्य (ईसा) की उपासना करके अपना जीवन बसर करती थी। उसके कमरे के बाहर स्वच्छ जल का एक कुआँ था। हम सब बुरी तरह प्यासे थे। सभी ने छक कर जल पिया और स्वस्थ लगने लगे। हम कोई डेढ़ घंटे की चढ़ाई के बाद इस सबसे ऊपरी चोटी पर पहुँचे थे।

अब हमें रात भर के क़याम के लिए किसी उपयुक्त स्थान पर अपने खेमे लगाने थे। हमारा गाइड एक अनुभवी व्यक्ति था। वह हम सब को कोई दो मिनट की उतराई के बाद एक चौरस से चबूतरे पर ले आया। यहीं हमें रात बितानी थी।

शिविर-रात्रि

हमारे साथ दस खेमे थे। इन खेमों के बारे में भी मैं दो शब्द कहूँगी। प्रत्येक खेमा डेढ़ गज ऊँचा था और उसमें तीन-तीन व्यक्ति आसानी से सो सकते थे। खेमे इतने कायदे से लपेटकर लाये गये थे और इतने हल्के थे कि उन्हें आसानी से उठाया-धरा जा सकता था। ऐसे प्रत्येक लपेटे हुए खेमे का वज़न डेढ़ सेर से अधिक न था। मेरा पुत्र विजय सारी चढ़ाई भर अपने साथ-साथ एक खेमा लाया था।

मेरे दल के सभी रूसी साथी बड़े मजेदार लोग थे। दल में पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ थीं। सभी हम भारतीयों को मान्य अभ्यागत के रूप में समझ रहे थे। उन्होंने हमें कोई काम न करने दिया। हम सभी भारतीयों को यहाँ जैसे खुली छूट दे दी गयी।

वस्तुतः शिविर लगाना मजाक नहीं है। हमारे देखते ही देखते हमारे सभी रूसी साथी चबूतरे के नीचे उतर कर हाथों और कुल्हाड़ी से लकड़ियाँ तोड़ने और उन्हें ऊपर लाने में जुट गये। कोई पौन घंटे तक लकड़ियाँ तोड़ी गयीं और मंच पर, एक ओर, टूटी हुई लकड़ियों का पड़ाव सा लगा दिया गया। "इतनी ढेर सी लकड़ियों का होगा क्या ?" मैंने गाइड से पूछा।

"आप इन्हें ढेर सी कहती हैं। सारी लकड़ियाँ चार घंटे भी न चलेंगी। पर अब हम ज्यादा न तोड़ेंगे," उसने उत्तर दिया।

हमारे दल की सारी रूसी शक्ति खेमे गाड़ने में लग गयी और कोई आधे घंटे में दस खेमे लग गये। हम थे सम्मानित अतिथि। अतएव सबसे आगे के खेमे हमें दिये गये। प्रत्येक खेमे में तीन-तीन व्यक्तियों को रहना था।

खेमों के बाद आग जलाई गयी। आग के दोनों ओर कोई दो-दो इंच मोटे दो लट्ठे गाड़े गये, इन दोनों को मिलाता हुआ एक और लट्ठा लगाया

गया। फिर दो बाल्टियों में पानी भर कर उन्हें आग के ऊपर के लट्ठे पर लटका दिया गया (चित्र सं०२)। हमारे लिए काफी बनाने का आयोजन किया जा रहा था। रूसी लोग अपने लिए डबल रोटियाँ और कुछ भुना हुआ मांस ले आये थे। परन्तु हम हिन्दुस्तानियों के साथ ढेरों खटराग थे। हमने तय किया था, यहाँ दाल बनेगी, तरकारी बनेगी, तहरी बनेगी, बाटी बनेगी। हम इसी हिसाब से सामान भी लाये थे। हमने अपना सामान निकाला और सारे भारतीयों ने काम बाँट लिया। अब हम सभी रसोईघर के रसोइये लग रहे थे। कोई आलू काट रहा था, कोई सेम तो कोई कटी हुई तरकारियाँ धो रहा था और कोई दाल-चावल बीन रहा था। हमने ईंटों का एक चूल्हा बना लिया था। ओंकार जी चूल्हे में ईंधन दे-दे कर आँच तेज कर रहे थे। सौभाग्य से हमें केन्द्र से मकई का आटा मिल गया था। हमने इसी आटे की बाटियाँ बनाने का निश्चय किया।

काले सागर की यात्रा, फिर पहाड़ की चढ़ाई और रूसियों का बीच। पर उस दिन जो हिन्दुस्तानी खाना मिला, उसकी याद कभी न भूलेगी। हमने अपने साथ काफी सामान रख लिया था। अतः हमने रूसियों को भी अपने खाने में साझीदार बनाया। उन्हें तो हमारा खाना इतना पसन्द आया कि कितने ही लोग आ-आकर इन चीजों के बनाने की विधि पूछने लगे। रूसियों को हमारी सेम की तरकारी और मकई के आटे की रोटियाँ बड़ी ही पसन्द आयीं।

इस स्थान पर एक छोटी सी घटना का भी मैं वर्णन कर देना चाहती हूँ। रूसी खाने के साथ पानी नहीं पीता। पर भारतीय का जीवन ही पानी है। हम समझ रहे थे कि पानी कहीं रखा होगा, पर जब हमने अपने खाने के पहले पानी का पता चलाया तो मालूम हुआ पानी का बूंद नहीं बचा। जब हमारे दल के नेता को पता चला कि बिना पानी के हमारा ग्रास तक हलक में नहीं उतरता तो उसने हमसे कहा कि वह अभी हमारे लिये पानी ले आयेगा। उसके साथ एक रूसी औरत भी पानी लाने के लिए चली। इस समय तक इतना अंधेरा हो चुका था कि हाथ को हाथ न सूझता था। हम जानते थे कि पानी ऊपर से आता है और ऊपर जाने के लिए काँटेदार झाड़ियों और ईंटों-पत्थरों

के आलावा खुद रास्ता इतना सँकरा है कि जरा भी पैर फिसला कि सैकड़ों फुट नीचे खड्ड में। ऐसे में अपने खेमों की सीमा पार करना स्पष्टतः मौत को निमंत्रण देना था। मैंने दलनायक से कहा भी कि हमें पानी नहीं चाहिये। हम बिना पानी के ही अपना काम चला लेंगे। परन्तु हमारे नेता ने हमें विश्वास दिलाया कि हम चिन्तित न हों। वह इस पहाड़ी की एक-एक ईंट जानता है। यहीं नीचे तो उसका मकान है। यहाँ रात-बिरात आना-जाना उसकी आदत हो गई है। उसने हमसे कहा कि वह अपने साथ जाने वाली रूसी महिला को भी आसानी से ले जा सकता है।

और सचमुच कोई पन्द्रह मिनट बाद हमारे सामने दो बाल्टी पानी आ गया। पर ये पन्द्रह मिनट कैसे बीते थे यह हमीं जानते थे। भगवान न करे अगर किसी को कुछ हो गया तो लोग क्या कहेंगे! हमारे मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार चक्कर लगा रहे थे, और हमारा बुरा हाल था। जब हमने अपने साथियों को फिर से अपने सामने देखा तो हमारी जान में जान आयी और मैं उनकी हिम्मत की मन ही मन प्रशंसा करने लगी।

हम कोई दस बजे अपना खाना-पीना समाप्त कर शिविराग्नि के सामने बैठ गये। रूसियों ने दिल खोल कर गाने गाये, कहकहे लगाये। सारे दल में जिसे जो आता था उसने करतब दिखाये। हम लोग भी किसी से पीछे न रहे। हमने भी अपने फटिक बंस-स्वर में पहले तो आवारा का गाना गाया जिसे सुनकर सभी बड़े मस्त हो गये, फिर घोषणा की कि हम अपना राष्ट्र गीत गायेंगे जिसे सुनते ही सब हड़बड़ा कर खड़े हो गये। उस दिन हमें अपने देश से हजारों मील दूर छः कंठों से अपना राष्ट्र गीत गाकर जितना सुख मिला था वह हमारे लिए गर्व की वस्तु है। हमने छोटी सी तकरीर की और रूसियों को भारत देश और भारत भूमि का महत्व समझाया। हमारी वक्तृता समाप्त होने के बाद चुटकुलों की बारी आयी। चुटकुले प्रायः झूठे होते हैं, परन्तु हमारे सभी चुटकुले सोलहों आने सच थे। हमने रूसी भाषा के साथ अपने अन्याय की कुछ कहानियाँ सुनायीं जिन्हें सुनकर रूसी हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। मसलन, ओंकार जी ने बताया कि जब वे शुरू-शुरू में मास्को पहुँचे तो मुर्ग-

मुसल्लम बनवाने के लिए उन्हें एक मुर्ग की जरूरत हुई। फलतः उन्होंने एक दूकान में जाकर इशारा करने के बाद कुकड़ूकूँ बोला। मुर्ग दूकान में न था। दूकानदार के यहाँ भेड़ का मांस था। उसने हाथ हिलाकर बताया कि उसके पास मुर्ग नहीं है। फिर दोनों हाथ सींग के रूप में करके भेड़ की बोली में बों-बों करके समझाया कि उसके पास भेड़ का मांस है। मेरे पति ने भी किस्सा सुनाया। वे किसी दूकान पर कोई चीज ढूँढ़ रहे थे। वे दूकानदार महिला को समझा रहे थे कि अमुक चीज उनके लिये बड़ी लाभदायक (पलेज्हना) है, परन्तु वे उससे रूसी में कह रहे थे, कि मुझे पोलज्हिना (रूसी में इसके अर्थ होते हैं अर्द्धपत्नी) चाहिये। वह बेचारी उनके लिए पोलज्हिना का कैसे बन्दोबस्त करती!

इस प्रकार जब हँसी कहकहे लगाते हुए रात के एक बजे तो हमारे नेता ने प्रस्ताव किया कि अब हम सोने जायँ और साढ़े छः बजे सुबह उठ पड़ें। इसी समय उसने सुबह के लिए पानी लाने, बरतन साफ करने के काम भी लोगों को बाँटे, परन्तु हमें फिर भी मुक्त रखा गया।

हम यानी मैं, मेरे पति और विजय एक खेमे में घुस गये, परन्तु जमीन ऊँची-नीची होने के कारण कोई तीन बजे तक हमें नींद न आयी, पर जब सुबह आँख खुली तो साढ़े सात बज चुके थे और रूसियों ने हमारे लिये काफी तैयार कर ली थी। आखिर कोई आठ बजे हम रूसियों और हिन्दुस्तानियों की पंगत काफी के लिए जम गयी। हम सभी चारों ओर एक मंडल में बैठ गये। इस मंडल में हमारी कद्र दूल्हों जैसी हो रही थी। हमने काफी के साथ-साथ 'मन्नया कासा' (एक प्रकार का हलवा) और मक्खन बिस्कुट भी उड़ाया।

करीब साढ़े आठ बजे हमारे खेमे उखड़ने लगे और हम नीचे 'तुरबाजा' (यात्री केन्द्र) में जाने की तैयारी में लग गये। कोई दस मिनट बाद हमारे सभी रूसी साथियों की पीठों पर एक-एक थैला दिखायी दिया और हम रूसी गाना गाते हुये पहाड़ से नीचे उतरने लगे। उतरते समय हमारे साथ एक छोटी सी दुर्घटना हो गयी जिसने कई दिनों तक हमारा साथ दिया। हुआ यह कि केन्द्र के पुराने जूतों की कृपा से ओंकार जी का पैर फिसला और वे गिर पड़े जिसके

कारण उनके पैर में मोच आ गयी। फिर भी वे किसी तरह, हिम्मत बाँधे चलते रहे और सिवा कन्धा थाम लेने के और उन्होंने किसी से किसी भी प्रकार की सहायता लेने से इनकार कर दिया। सौभाग्य से उधर से होकर एक लारी गुजर रही थी। लारी वाले ने ओंकार जी को गाड़ी पर बैठ जाने का अनुरोध किया, परन्तु ओंकार जी ने मोटर की सवारी से टाँगों की सवारी ज्यादा पसन्द की।

हमारे लौटने का रास्ता जाने वाले मार्ग से लम्बा था। हम पहाड़ पर लगे हुये खेतों और पेड़-पौधों के बीच से होकर उतरने लगे। मार्ग में हमने दो जगह विश्राम भी किया और दोनों ही स्थानों पर हमें अपने नेता का पर्वता-रोहण सम्बन्धी लेक्चर सुनना पड़ा।

हम ठीक ग्यारह बजे दिन को यात्री-केन्द्र में पहुँचे। केन्द्र में पहुँचने से कोई पचास गज पहले ही हमारे नेता ने सारी टोली को दो-दो की एक लम्बी सी कतार में कर लिया और हम झूमते-झामते और पंचम स्वर में अलापते और रूसी गाने का आनन्द लेते हुए केन्द्र में इस शान से घुसे मानो जग जीत कर आये हों। केन्द्र में आते ही वहाँ के अकार्डियनवादक ने, अकार्डियन की धुन पर, सबका स्वागत किया। हम केन्द्र में आते ही मंच पर एक पंक्ति में खड़े हो गये जहाँ केन्द्र के कर्मचारियों ने नारे लगा-लगा कर हमारा अभिनंदन किया। फिर हम सबको गझे हुये फूलों का एक-एक दस्ता भेंट किया गया। हमारे जग जीत कर आने की खुशी में हमें ठंढा-ठंढा शरबत पिलाया गया और बताया गया कि हमें अपनी अगली मंजिल पित्सुंदा जाने के लिये तुरन्त अपना बोरिया-बिस्तरा लेकर, केन्द्र के बाहर खड़ी हुई बस पर बैठ जाना है। पहाड़ की चढ़ाई-उतराई के कारण हम सबकी अजीब-अजीब शक्लें बनी हुई थी; परन्तु करते भी क्या। हमें अगली मंजिल का नोटिस इतना आनन-फानन दिया गया था कि हमें अपना सारा काम-धाम छोड़कर सामान जुटाने और बस पर बैठने की तैयारी करनी ही पड़ी।

यहाँ के कर्मचारियों ने हम सभी भारतीयों को प्रायः सभी प्रकार की सुविधाएँ दी थीं। हम सब इन लोगों के सद्व्यवहार से और यहाँ की भोजन-

व्यवस्था से बड़े संतुष्ट थे। चलते-चलाते हमने यहाँ की सम्मतिपत्रिका में अपनी सम्मति भी लिखी। यहाँ का डाइरेक्टर भी हमारी बस पर बैठ कर केन्द्र से कोई अट्ठारह मील दूर अर्थात् गूदा-ऊता नगर तक हमें छोड़ने आया। गूदा-ऊता में हमने उसे इत्र की फुरेरियाँ भेंट कीं और वह प्रसन्न होकर हमारी बस से उतर पड़ा।

हम बस पर से ही गूदा-ऊता नामक नगर को देखते रहे। वह नगर सुखूमी जैसा ही छोटा था। वहाँ की सड़कें, मकान, दूकानें आदि भी सुखूमी जैसी ही थीं।

गूदा-ऊता से अपनी मंजिल—पित्सुंदा—तक की यात्रा लगभग डेढ़ घंटे की थी। यात्रा भर हम पहाड़ों और हरियाली के मध्य ही भागते रहे। यहाँ भी प्रकृति अपने पूर्ण यौवन पर थी।

—:०:—

पित्सुन्दा

आखिर ठीक दो बजे हम प्रकृति के बीचोबीच स्थित पित्सुंदा ग्राम में पहुँच गये। यात्री केन्द्र में हमारे पहुँचने से पहले ही एक दल उसी बस पर आगे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। हम लोग बस से उतर कर केन्द्र के मैदान में पड़ी एक बेंच पर बैठे ही थे कि हमारी निगाह ओंकार जी पर पड़ी। मोच के कारण उनके पैर का दर्द इतना बढ़ गया था कि असह्य हो उठा था और उनकी आँखें भीग गयीं थीं। हम सभी चिन्तित हो उठे। मैं सबसे पहले डाक्टर की तलाश में भागी परन्तु डाक्टर अभी केन्द्र में उपलब्ध न था। फलतः उसे बुलाने के निमित्त व्यवस्था की गयी। सौभाग्य से हमारे साथ सारीडान की टिकियाँ थीं। हमने उन्हें एक टिकिया खिलाई और उनका दर्द सहन-सीमा के भीतर आ गया।

पित्सुंदा यात्री केन्द्र में भी, नोवी अफोन की ही भाँति, तम्बुओं की व्यवस्था थी। वस्तुतः तम्बू पूर्णतः कपड़े के नहीं होते। इनका बाहरी ढाँचा और फर्श लकड़ी का होता है, जिस पर कपड़े लगा कर उन्हें तम्बू का रूप दे दिया जाता है। इन तम्बुओं या खेमों को रूसी में 'पलाता' कहते हैं। प्रत्येक पलाता में सामान्यतया चार पलंग, एक पैरपोश और एक छोटी-सी मेज होती है, जिस पर छोटी-मोटी चीजें रखी जा सकती हैं।

काले सागर के तटवर्ती नगरों में जहाँ-जहाँ भी तम्बुओं से मेरा साबका पड़ा मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके निर्माताओं का उद्देश्य केन्द्र में यात्रियों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करना और पर्यटकों के लिए ऐसे प्राकृतिक वातावरण का निर्माण करना है जिसके बीच रह कर वे दुनिया की चिन्ता भूल कर अपनी यात्रा का वास्तविक आनन्द उठा सकते हैं। प्रायः ये तम्बू वृक्षों के नीचे लगाये जाते हैं, जहाँ गर्मियों में यात्रियों को छाया के साथ ही साथ त्रिविध वायु का भी आनन्द मिल सकता है।

यात्री-केन्द्र

इस स्थल पर मैं यात्री केन्द्रों के सम्बन्ध में भी दो-चार शब्द कहना चाहूँगी। रूस के सभी यात्री केन्द्रों का संचालन सरकार द्वारा होता है। जिन लोगों के पास 'पुचोव्का' (यात्री अनुमति-पत्र) होते हैं उन्हें यहाँ घर की तरह सुविधाएँ दी जाती हैं। ऐसे लोग केन्द्र के मेहमान होते हैं, फलतः उन पर होने वाला सारा खर्च सरकार द्वारा किया जाता है। ये केन्द्र यथासम्भव अधिक से अधिक रमणीय स्थानों में (प्रायः समुद्र के पास) होते हैं। यहाँ यात्रियों की देख-रेख के लिए डाइरेक्टर का कार्यालय, लेखा-जोखा विभाग, कतिपय गाइड, एक पुस्तकालय, भोजनालय, कन्सर्ट या नाच-गाने का मंच, वालीबाल की फील्ड, चिकित्सालय आदि सभी कुछ होता है। यात्री को यहाँ घर जैसा आराम मिल सकता है। परन्तु जब कभी केन्द्र में कुछ विदेशी आ जाते हैं, तब केन्द्र की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। इन केन्द्रों में विदेशियों का खास ध्यान रखा जाता है।

मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि सभी केन्द्रों ने हमारा स्वागत खुले दिल से किया और जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मांस-मछली से हमारा जन्म का बैर है तो उन्होंने हमारे लिए शुद्ध, अर्थात् लहसुन-प्याज रहित, शाकाहारी खाने की व्यवस्था की। बेशक, ये लोग हमारी जैसी रोटी-पूड़ी तो नहीं बना सकते थे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारी रुचि और हमारे स्वाद के अनुकूल हमें भोजन देने में कुछ उठा न रखा। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि हमारे लिए अधिकारियों ने अपने आम नियमों का उल्लंघन करके अपने विशेषाधिकारों का उपयोग किया और हम सामान्यतया जिन चीजों के अधिकारी नहीं थे, वे चीजें भी हमें दी गयीं जैसे दूध, दही, मुफ्त सिनेमा, आदि-आदि। प्रायः सभी केन्द्रों में हमें 'सम्मानित अतिथि' कह कर पुकारा जाता था और केन्द्र भर में हमारी सबसे अधिक खातिर होती थी। केन्द्रों ने हमारी ओर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया जिससे हमारे इस विश्वास को और भी बल मिला कि रूसी भारतीय को प्यार करता है और उसके लिए वह कुछ भी उठा नहीं रखता।

पित्सुंदा केन्द्र में अपने 'पलाता' में पैर रखते ही वहाँ का डाइरेक्टर हमारे पास आया और बोला—"कृपया मेरे कमरे में चलने का कष्ट करें।"

"अवश्य !" और हम सब उसके साथ उसके कमरे में चल दिये।

डाइरेक्टर ने हमें एक आराम-कुर्सी पर बिठाया और हमारे आने पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोला—"आप भारतीय हैं, हम भारतीयों की इज्ज़त करते हैं। हमारे भाग्य कि आप लोग हमारे यहाँ आये। शायद आप लोगों का खान-पान हमसे भिन्न होता है। हमें बताएँ कि हम आपके लिए क्या-क्या इन्तजाम करें ?"

हम डाइरेक्टर के व्यवहार से मुग्ध हो गये। मैंने उनसे शाकाहारी भोजन बनवाने की व्यवस्था करने को कहा और उन्होंने न सिर्फ ऐसा करने का वादा ही किया, अपितु हमारे खाने के समय स्वयं आ-आकर देखने लगे कि सब कुछ हमारे मनमाफिक है या नहीं। उन्होंने हमारे लिए फलों की व्यवस्था ऊपर से की। हमने इस अतिरिक्त सुविधा के लिए पैसा भी देना चाहा परन्तु उन्होंने बड़ी शिष्टता से हमारा यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

इसके बाद प्रधान गाइड हमारे पास आयी। उसने भी हमसे बातचीत की और पित्सुंदा के प्रोग्राम के बारे में बताने लगी। फिर बोली—"आज शाम को साढ़े सात बजे नवागन्तुक यात्रियों की बैठक होगी। आप लोग भी बैठक में आने का कष्ट करें।"

हमने उसे धन्यवाद दिया और आने का वादा किया।

वस्तुतः हम रात को अच्छी नींद न आने और पहाड़ की चढ़ाई-उतराई के कारण इतने थक गये थे कि खाकर सोने की इच्छा हो रही थी। हमारे लिए खाने की विशेष व्यवस्था की गयी थी और उसके लिए जरूरत थी समय की। फिर भी हम पाँच बजते-बजते खाने-पीने से निपट कर अपने बिस्तर पर पड़ गये ओर कोई दो घंटे तक लम्बी तानी।

सात बजे हमें किसी ने जगाया। ओंकार जी को देखने के लिए एक डाक्टर आया था। उसने उनके पैर की परीक्षा करके तत्काल ही बता दिया था कि कोई विशेष बात नहीं, मामूली मोच है जो दो-तीन दिन में अपने आप ही

ठीक हो जायगी। फिर भी उसने अगले दिन अस्पताल जाकर एक्सरे कराने की सलाह दी। इस समय तक ओंकार जी की हालत काफी ठीक हो गयी थी, परन्तु हम लोगों के दबाव से वे बिस्तर पर पड़े रहे।

ठीक साढ़े सात बजे मैं केन्द्र के पुस्तकालय पहुँची। यहीं हमें गाइड से पित्सुंदा के अपने कार्यक्रम के बारे में बात करनी थी। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि प्रत्येक केन्द्र में नवागन्तुक यात्रियों को प्रतिदिन सायंकाल बातचीत के लिए आमंत्रित किया जाता है, जहाँ उन्हें उनके अगले दिन का कार्यक्रम बताया-समझाया जाता है। मेरे आने के पहले से ही कुछ अन्य दलों के लोग वहाँ जमे थे और गाइड का भाषण चालू था। परन्तु मेरे दल का कोई भी व्यक्ति, सिवा मेरे और मेरे पति के, वहाँ उपस्थित न था। यह बातचीत बड़ी अल्प रही और मुझे बताया गया कि दूसरे दिन सायंकाल साढ़े छः बजे हमें पित्सुंदा की बस्ती और वहाँ का एक गिरजा दिखाया जायेगा।

उस दिन पित्सुंदा में हमारा पहला दिन था। पहला दिन प्रायः कस कर आराम करने का दिन होता है। अतएव हमने भी रात का खाना कोई नौ बजे ही खा लिया और बिस्तर पर लुढ़क पड़े।

दूसरे दिन का प्रोग्राम हमें स्वयं मालूम न था। हमारा अनुमान था कि प्रातः साढ़े नौ बजे हमें पित्सुंदा बस्ती दिखाने ले जाया जायगा, परन्तु केन्द्र से पता चला कि उस दिन कोई प्रोग्राम नहीं है और हम स्वेच्छापूर्वक घूमने के लिए स्वतंत्र हैं। इसीलिए हम कोई दस बजे समुद्र-स्नान के लिए निकल गये।

हमारे यात्री केन्द्र से स्नान-घाट काफी दूर था जहाँ पैदल आधे घण्टे में पहुँचा जा सकता था।

रिज़र्व इलाका

इस सिलसिले में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यों तो हमारा यात्री-केन्द्र समुद्र से एकदम सामने था परन्तु हम उसका लाभ इसलिए न उठा सकते थे कि सामने का सारा इलाका, कोई एक मील

तक, सरकारी इलाका था जो चारों ओर सीमेन्ट की ऊँची-ऊँची दीवालों से घिरा था। कहते हैं कि यह इलाका रूस के प्रधान-मन्त्री और राष्ट्रपति के लिए रिजर्व है और वहाँ आम जनता का जाना वर्जित है। यदि हमारे केन्द्र के सामने यह दीवाल न होती तो हमें समुद्र तक पहुँचने में अधिक से अधिक पाँच मिनट लगते।

समुद्री घाट

लोगों ने हमें बताया था कि यहाँ के घाट सुखूमी अथवा नोवी अफोन की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा पानी अधिक साफ है। पित्सुंदा में दो घाट हैं, एक केन्द्र वाली सड़क पर बायीं ओर चलकर आधे घंटे के रास्ते पर, और दूसरा दायीं ओर आधे घंटे के रास्ते पर। हम दोनों ही घाटों का अनुभव कर लेना चाहते थे, अतः बायीं ओर के लिए चल पड़े। ओंकार जी के पैरों में अभी दर्द था, अतएव वे सपत्नीक केन्द्र में रह गये।

घाट अन्य घाटों की तरह था। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि समुद्री घाट गंगा-यमुना के घाटों की तरह नहीं होते जहाँ जल में उतरने के लिए सीढ़ियाँ, कपड़े उतारने के लिए तख्त और स्वर्ग में सीट रिजर्व कराने के लिये पंडित या महन्त होते हैं। समुद्री घाट वस्तुतः समुद्री किनारा होता है जहाँ दूर-दूर तक लोगों की टोलियाँ होती हैं। यहाँ सामान की चोरी का डर नहीं था, फिर भी हमें अपनी चीजों पर निगाह तो रखनी ही पड़ती थी।

समुद्री स्नान बड़ा लाभकर होता है और विशेष रूप से गर्मियों में। रूसी यहाँ शरीर झुलसा कर हिन्दुस्तानी बनने का प्रयत्न करता है और दिन-दिन भर पानी और धूप में पड़ा रहता है। हमारे लिए यह स्नान मनोरंजन का साधन था, जिसके पीछे आमोद-प्रमोद, स्वास्थ्य और विश्राम के अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य न थे। पित्सुंदा के समुद्री तट के सामने सनोबर के वृक्षों का एक वन है जो दूर-दूर तक फैला हुआ है। हम कोई एक घंटे तक जलानन्द का अनुभव कर चुकने के पश्चात् वनानन्द का अनुभव करने के लिये 'लेस' (रूसी शब्द, जिसका अर्थ है जंगल) में आ गये। पित्सुंदा के वनों में सनोबर

के वृक्षों की बहुतायत है। इसीलिये यहाँ रोगियों के स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचता है। स्वस्थ व्यक्तियों के लिये तो सनोबर के वृक्ष वरदान है। मनुष्य इन वृक्षों से टकरा-टकरा कर आने वाली शीतल, मन्द और सुगन्धित बयार में खो जाता है।

हम भी न जाने कितनी देर तक वहाँ पड़े रहे और जब घड़ी पर निगाह पड़ी तो पौने चार बज चुके थे। प्रकृति के बीच हम अपने उदर की सुध लेना भूल चुके थे। केन्द्र में दोपहर का भोजन केवल पाँच बजे तक मिलता है। अभी हमारे पास उसके लिये समय था, अतएव हम आनन-फानन बस के अड्डे तक पहुँच गये। सौभाग्य से हमें शीघ्र ही बस मिल गयी और हम समय रहते-रहते केन्द्र में आ गये।

हम खा-पीकर निपटे ही थे कि केन्द्र की गाइड हमारे पास आयी और हमसे पूछने लगी कि हम अगले दिन सुबह पद-यात्रा पर जायेंगे अथवा नहीं। पदयात्रा स्वास्थ्य के लिये लाभकर होती है और हम उस पर जाना भी चाहते थे, परन्तु ओंकार जी के पैर की मोच के कारण हम निश्चित उत्तर न दे सके। हमने केवल यही कहा कि हम इसका उत्तर कल ही देंगे।

"परन्तु यदि आप लोगों को जाना हो तो हमें आपके लिये गोदाम से साग-सब्जी का प्रबन्ध करना होगा," गाइड बोली।

"तो आप प्रबन्ध कर लीजिये। यदि हम न जा सके तो लिया हुआ सामान वापस कर देंगे," हमने उत्तर दिया।

"अच्छी बात है। मैं ऐसा ही करूँगी।" गाइड ने हमें आश्वासन दिया।

परन्तु उसी दिन रात को डाक्टर ने आकर बताया कि ओंकार जी का पदयात्रा पर जाना उचित नहीं है। अतएव गाइड से कहलाना पड़ा कि हम सारे दल के साथ नहीं जा सकते। हाँ हम यह यात्रा अपनी इच्छानुसार करेंगे। हमने अपनी योजना पहले से ही तैयार कर ली थी। समुद्र तट के सामने के वन से मैं परिचित थी ही। हम बस से वहाँ जाकर दिन भर आराम कर सकते थे।

अन्ततः हमने गाइड द्वारा अधिकारियों से कहलाया कि वे हमारे लिये समुद्र तट तक जाने और वहाँ खाना बनाने के लिये कच्चे सामान का प्रबन्ध कर दें। परन्तु अधिकारियों ने हमें सलाह दी कि इन वनों में आग जलाना निषिद्ध है, अतः हम इच्छानुसार अपना भोजन केन्द्र के रसोईघर में बनायें और बना हुआ खाना ले जाकर वन में दिन भर आराम करें।

पिकनिक में पिकनिक-स्थान पर दालबाटी बनाने में जो आनन्द है वह बने-बनाये मिष्ठान्नों में कहाँ ! परन्तु इस पिकनिक में हमें अपनी पाककला का परिचय देने की आवश्यकता न थी। अस्तु हमें केन्द्र ही से खाना बनाकर ले चलने का रास्ता अख्त्यार करना पड़ा। अधिकारियों ने हमें अनुमति दे दी थी कि हम महिलायें केन्द्र के रसोईघर में जाकर इच्छानुसार जो चाहें बना सकती हैं, और हमें यथेष्ट मात्रा में आटा, दाल, आदि मिल जायेगा।

शाम के समय हमने पित्सुंदा पर एक दृष्टि डालने के लिए उसकी सड़कों पर चहलकदमी करने का निश्चय किया। इसके लिये ओंकार जी और उर्मिला कुछ पहले, और मैं तथा मेरे पति कुछ बाद में चले। हमें विश्वास था कि हम आगे चलकर कहीं न कहीं एक दूसरे से मिल जायेंगे।

मैं सड़क पर चल ही रही थी कि एक सज्जन, बहुत ही सकुचाते हुये मेरे पास आये। बोले, "बाधक बनने के लिये माफ करें। आप लोग इन्डोनीशिया से आ रहे हैं ?"

"नहीं, भारत से" मैंने उत्तर दिया।

ये सज्जन बड़े हँसमुख, बड़े मजाकिया थे। वे हमें अपने कुनबे के बीच एक बाग में, ले आये। अब हम पित्सुंदा के एक परिवार में थे जहाँ सभी भारत और भारतीयों के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक थे। हम भी हँसी-कहकहों के बीच साड़ियों और बिन्दियों की वह गाथा सुनाने लगे जो हम सैकड़ों व्यक्तियों को सुना चुके थे। आखिर कोई आध घंटे बाद हमने उनसे विदा ली और दाहिनी ओर के समुद्री तट पर चले आये और एक रेस्ट्राँ में घुस गये। वहाँ ओंकार जी और उर्मिला रूसियों की लपेट में पहले से

ही आ चुके थे। ये रूसी हमारे ही केन्द्र के यात्री थे और एकान्त में दो भारतीयों को अपना अतिथि बनाने के अवसर को हाथ से न जाने देना चाहते थे। हमें देखते ही इन रूसियों का उत्साह और बढ़ गया और उनमें से एक सज्जन दौड़कर रेस्ट्राँ की खिड़की पर पहले दिया हुआ आर्डर दूना कर आये।

कुछ ही मिनटों में हमारे सामने की मेज तरह-तरह की तश्तरियों से लद गयी। हमने इन पदार्थों का थोड़ा-सा अंश पेट में डाला और बाकी के लिए हाथ जोड़ दिये। मगर शायद हमारा पिंड न छूटना था। शीघ्र ही हमारी मेज पर शराब की बोतलें आ गयीं। खाने की मेज पर शराब का दौर रूस की प्रथा है ओर विदेशियों के बीच तो इस प्रथा का और सख्ती से पालन किया जाता है।

निश्चय ही हमें वहाँ के समाज के मान-सम्मान को दृष्टि में रखकर, बाध्य होकर, रूसी मित्रों के आग्रह से मजबूर होकर, शराब को ओठों से लगाना पड़ा। आज भी हम इस अरुचिकर चहेती को इसीलिये मुँह लगा रहे थे कि इससे रूसी बन्धुओं का मान रहता था, हमारी मित्रता की एक कड़ी बढ़ती थी। रूसी मित्रों का आग्रह हमारी सुरा-सहन-शक्ति को पार कर गया और जब हमने दूसरा भरा हुआ जाम गले से उतारा तो हमारी और हमारे रूसी मित्रों की हालत देखने काबिल थी। हम चुप थे, परन्तु हमारे आगे की दुनिया नाच रही थी। हम मुस्करा रहे थे, पर हमारे ओठ न जाने क्या कह रहे थे। हमें लग रहा था कि यहाँ से चलना हमारे लिये कठिन हो रहा है। परन्तु अपनी कमजोरी दूसरों पर प्रकट न हो जाये, इसके लिये हम विशेष रूप से अपने को सँभाले हुये थे।

सौभाग्य से एक टैक्सी हमारे सामने आकर खड़ी हो गयी और हम सब उस पर लद कर केन्द्र में आ गये और सीधे खाने की मेज पर जम गये।

सिनेमा-केन्द्र में मनोरंजन का साधन

आज हमारे केन्द्र में सिनेमा दिखाने का आयोजन किया गया था, जिसका मामूली सा टिकट था। सिनेमा उसी हाल में होना था जहाँ बैठे हम

खा-पी रहे थे। फिल्म का नाम था 'मेक्सिको के आकाश के नीचे'। हम यह फिल्म मास्को में दो बार देख चुके थे। फिल्म बड़ी उच्च कोटि की थी, अतएव हम इस चलती-फिरती दुनिया को एक बार फिर से अपने चर्मचक्षुओं से देखने के लोभ का संवरण न कर सके। और जब फिल्म आरम्भ होने से कोई चार-पाँच मिनट पहले हम हाल के सामने आकर खड़े हुए तो देखा कि सारा हाल भरा हुआ है। हम भी दौड़ कर टिकट खरीदने पहुँचे। वहाँ एक महाशय पहले से ही हमारी प्रतीक्षा में खड़े थे। बड़े सलीके से और वाणी में मिश्री घोल कर बोले—"आप हमारे सम्मानित अतिथि हैं, इतनी दूर से हमारी दुनिया में आये हैं, हम आपसे टिकट कैसे ले सकते हैं?" और उन सज्जन ने हम सब को ले जाकर हमें पहले से ही हमारे लिये सुरक्षित सीटों पर बिठा दिया।

सिनेमा शुरू हो गया। वही मेक्सिको का विद्रोह, चोरी-चोरी शस्त्रास्त्रों का बनाना, मार-काट, प्यार-दुलार। एक रील खत्म हुई तो आपरेटर मशीन में दूसरी रील चढ़ाने लगा और हाल में रोशनी जल गयी। यही क्रम सारे समय चलता रहा। हमारे ओंकार जी की भीतरी दुनिया की स्पीड, उनके सामने की दुनिया से अधिक तेज थी, फलतः वे उर्मिला के कन्धों का सहारा लेकर चल दिये और मैं अपने पति और विजय के साथ बैठी रही। परन्तु बीच-बीच में रील बदलने के लिए रोशनी का होना मेरे पति को असह्य हो उठा और वे मुझे और विजय को वहीं छोड़ खेमे में चले गये।

हमारा अगले दिन का कार्यक्रम बड़ा ही संक्षिप्त रहा। हमने अपनी पद-यात्रा स्थगित कर दी थी, परन्तु मेरा पुत्र, विजय, और महेन्द्र शुक्ल पद-यात्रा पर जाने की जिद मचाये थे। फलतः हमने उन्हें अकेले जाने की अनुमति दी और वे पद-यात्रियों के साथ, प्रातःकाल आठ बजे ही, पद-यात्रा पर निकल गये। हमारे दल में कोई बीस व्यक्ति थे, फिर भी इस पद-यात्रा पर कुल छः व्यक्ति ही गये। शेष हमारी तरह केन्द्र में ही रह गये (चित्र सं० ६)।

बेशक हमें उस तमगे का मोह था, जो प्रत्येक उस यात्री को दिया जाता है, जो अपनी सारी यात्रा में ८० मील की पैदल यात्रा करता है। परन्तु इस बार हम, अपने एक साथी की असमर्थता से, पद-यात्रा पर न जा सके थे। साथ ही हम पद-यात्रा अथवा शिविर-निवास के आनन्द से भी हाथ न धोना चाहते थे। अतएव हमने इस बात की पूरी कोशिश की कि कहीं से हमें कोई टैक्सी मिल जाय और हम अपने दलवालों से जा मिलें। परन्तु जहाँ हमारे मित्र गये थे वह टैक्सी का मार्ग न था, अतः हम विवश होकर केन्द्र में ही रह गये।

तटवर्ती वन-शिविर

एक दिन पहले हम समुद्री तट और उसके सामने का वन देख ही आये थे। फलतः हमने केन्द्र अधिकारियों से अनुरोध किया कि वे हमारे लिए उसी वन में शिविर लगाने का आयोजन करें ताकि हम भी अपना पूरा दिन सागर और प्रकृति की गोद में बिता सकें। अधिकारियों ने हमारे लिये यथा-सम्भव सभी व्यवस्था कर दी और भोजन-भांडार के व्यवस्थापकों को आदेश दिये कि हमें भांडार से सारा कच्चा सामान दे दिया जाय। परन्तु तभी हमारी गाइड ने बताया कि हम जिस सनोबर के वन में जाना चाहते हैं उसकी लकड़ी राज्य के लिये अमूल्य है, अतएव वहाँ आग जलाने और खाना बनाने की मनाही है। यदि हम वहाँ जाना ही चाहते हैं, तो हम अपना खाना केन्द्र से ले जायँ।

इस प्रतिबन्ध ने हमारे हौसले पर पानी फेर दिया। फिर भी हमने दिन भर समुद्री किनारे पर रहने का अपना विचार न छोड़ा। अस्तु, हम महिलाओं ने हिम्मत बाँधी और केन्द्र के रसोईघर में ही भारतीय भोजन बनाने का निश्चय किया। सेम, बैंगन और एक मोटा सा कद्दू हम एक दिन पहले ही खरीद लाये थे, उनकी जायकेदार तरकारी बनी और सूजी तथा मैदे के मिले-जुले आटे की घी में भीगी हुई पूरियाँ तली गयीं। वस्तुतः हमारी रूस-यात्रा में हमारी सबसे बड़ी समस्या थी भारतीय भोजन की। अव्वल तो इस इलाके में

साग-सब्जियों की कमी है और यदि वे मेहनत-मशक्कत से उपलब्ध भी हो जायँ तो केन्द्र में सिर-दर्द समझकर लायी नहीं जातीं। बेशक हम अपने विशेष उद्योग से शाकाहारी भोजन बनवा लेते थे, परन्तु उससे पेट भरता था, रुचि नहीं। आज का खाना ऐसा था कि हमारी आत्मा तक खिल गयी थी। यहाँ मैं यह भी कह दूँ कि सोवियत संघ में गेहूँ का आटा नहीं मिलता। मैं मास्को में कोई तीन वर्ष रही हूँ, परन्तु वहाँ मुझे गेहूँ का आटा कभी नहीं मिला। सब्जी के नाम पर साल में आठ महीने पत्ता-गोभी और आलू ही मिलता है। तर-तरकारियों के सताये हुए भारतीयों को, भारतीय ढंग पर पकाये हुये शुद्ध वैष्णव भोजन मिलने पर जितनी प्रसन्नता होती है उसका अनुभव पाठक कदाचित् नहीं कर सकते। हमें जब कभी मास्को स्थित भारतीय दूतावास में, अथवा दूतावास के अन्य मित्रों के यहाँ, शुद्ध भारतीय भोजन खाने का अवसर मिला है, तो सच जानिये कि उसकी खुमारी हमें हफ्तों तक बनी रही है।

अस्तु, उस दिन पित्सुंदा में भी भारतीय खाना तैयार हुआ, परन्तु वह हम महिलाओं के लिए बड़ा मँहगा पड़ा। जब हम रसोईघर से निकलकर खेमे में आयीं, तो हमारे मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, साड़ियाँ पसीने से बुरी तरह भीग गयीं थीं और हम कहे जा रही थीं, "ऐसे खाना बनाने से बाज आये। ओफ़, कितनी जलन है रसोईघर में।" फिर हमने रसोईघर की जिस गन्दगी का आँखों-देखा वर्णन अपने पुरुष वर्ग से किया उसकी चर्चा यहाँ न करना ही ठीक है। वहाँ की दशा यूँ समझिये कि यदि आप वैष्णव हों और आपके सामने शाकाहारी कह कर आलू या दाल के शोरबे की प्लेट लायी जाय तो समझ लीजिए कि उसमें से या तो मांस के टुकड़े पहले से ही निकाल लिए गये हैं ताकि आपको पता न चले, या फिर उसे उसी कलछुल से चलाया गया है जो मांस के हंडों में नाचा करता है। आपके शोरबे का नमक देखने के लिए बनाने वालों ने चम्मच से कई बार उसे पिया होगा और जूठा चम्मच उसमें डुबो कर आपका धर्म नष्ट किया गया होगा। इसी सिलसिले में

रूसियों की एक खास आदत का मैं उल्लेख कर देना चाहती हूँ। प्रायः दुकानों में कटी-छिली और नमकीन तरकरियाँ (पत्ता गोभी, खीरा, गाजर, चुकन्दर अथवा ये सभी मिली-जुली चीजें) बिकने आती हैं। मैंने देखा है कि जब कभी विक्रेता का मन होता है वह कलछुल से ये चीजें अपने मुँह में रखता है और उसी जूठी कलछुल से खरीदारों को चीजें बेचता है। परन्तु रूसी इसे अपना स्वभाव समझता है और कभी कोई आपत्ति नहीं करता। खरीदार भी सबके सामने इन चीजों का एक अंश मुँह में रख लेता है। मेरी नौकरानी भी जब कभी हमारी चीजें खरीदने जाती थी, यही करती थी। मैंने टोक-टोक कर उसकी यह आदत छुड़ाई थी। और हाँ, यदि आप रूस के किसी रेस्ट्राँ में बैठे हैं तो यह यकीन जानिये कि आपके सामने जो-जो खाद्यपदार्थ आये हैं, उन्हें रसोइयों ने चखा ही नहीं होगा, बाकायदा उनका भोग लगाकर उन्हें असली माने में जूठा किया होगा।

अस्तु, हम महिलाओं ने कसकर एक घंटे आराम किया, तब कहीं हमारे जी में जी आया। हाँ, हमने चलते-चलाते पुरुष वर्ग के आगे यह जरूर घोषित कर दिया कि अब से हम कभी यात्री केन्द्रों के रसोईघरों में जाकर खाना न बनायेंगी। परन्तु यह सिर्फ सोडावाटरी संकल्प था।

तो, हम दोनों परिवार, कोई एक बजे दिन में वनवास के उद्देश्य से अपने खेमे से निकल कर, लदे-फंदे, बस या टैक्सी की टोह में केन्द्र के बाहर सड़क पर खड़े हो गये। नीचे पक्की जमीन आग का गोला बनी हुई थी, ऊपर से सूरज भगवान हम पर अग्निवाण बरसा रहे थे और हम, इन दोनों ओर के आक्रमणों का सामना करते हुए, किसी जन-वाहक (बस) की प्रतीक्षा कर रहे थे। आखिर हमारी तपस्या सफल हुई और शिव के प्रत्यक्ष वरदान की भाँति एक बस ठीक हमारे सामने आकर रुक गयी। 'स्लावा बोक' (इन रूसी शब्दों का अर्थ है—भगवान का शुक्र हैं) हमारे मुंह से निकला और हम में जम गये।

आखिर बस ने हमें उस स्थान पर उतारा जहाँ से समुद्री किनारा कोई पाँच मिनट की चलाई पर पड़ता था। तट पर पहुँच कर हमने अपना बिस्तर लगाया और घने वृक्षों की साया में आराम करने के लिए लेट गये। मगर

जब पेट में चूहे कूद रहे हों और बढ़िया सब्जी और पूरी की सोंधी-सोंधी महक घ्राणेन्द्रिय में प्रवेश करके भूख को झकझोर रही हो तो भला नींद आ सकती है ? नींद का बहाना करके मेरे पति और ओंकार जी कोई पाँच-छः मिनट के लिए लेटे होंगे कि सहसा उठ पड़े और कटोरदान खखोलने लगे। राज़ की बात यह है कि हम लोगों ने उस दिन जिन्दगी में पहली बार समुद्री तट पर, प्राकृतिक सुषमा के बीच, शुद्ध शाकाहारी भोजन का आनन्द लिया था। वह दिन हमें सदा याद रहेगा।

खाने के बाद भारतीय पुरुषों ने अपने-अपने रूसी लँगोट और हम महिलाओं ने तैराकी पोशाकें पहनीं ओर समुद्र में घुस पड़े। यह समुद्री स्नान, और बीच-बीच में केमरों की चट्ट-चट्ट, कोई तीन घंटे चली और हम लगभग पाँच बजे फिर अपने वनवास-स्थल पर जम गये। इस बार जो हमने लम्बी तानी तो ठीक आठ बजे सोकर उठे।

इस प्रकार उस दिन हमारी पिकनिक सामप्त हुई और हम खरामा-खरामा टहलते हुए केन्द्र में पहुँच गये।

प्राचीन पित्सुंदा

वस्तुतः हमने पित्सुंदा में समुद्र-स्नान, चहलकदमी, पिकनिक अथवा सोने के अतिरिक्त और कुछ भी न किया था। पित्सुंदा एक छोटा-सा ग्राम है जिसका महत्त्व वहाँ की प्रकृति और समुद्री तट के कारण विशेष रूप से बढ़ गया है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह यात्रियों के लिये आकर्षण बना हुआ है। हमें ज्ञात हुआ कि पित्सुंदा में पुरातत्व विभाग के उद्योग से जमीन के भीतर प्राचीन पित्सुंदा का पता चला है, जो एक दर्शनीय स्थल है। फलतः हमने अधिकारियों से अनुरोध किया कि वे हमें पित्सुंदा के दर्शनीय स्थल दिखाने की व्यवस्था कर दें। सौभाग्य से अगले दिन एक दल को वह स्थल दिखाने के लिये ले जाने की व्यवस्था की जा रही थी। हमें भी उसी में शामिल कर लिया गया और निर्देश दिये गये कि हम अपने दल-बल सहित कल शाम को साढ़े छः बजे केन्द्र के फाटक पर जमा हों।

प्रातःकाल नौ बजे हमें बताया गया कि कुछ ही देर में पद-यात्री वापस केन्द्र में आने वाले हैं। पदयात्रियों के रूप में भारतीयों में से विजय और महेन्द्र शुक्ल गये थे। हमें इन दोनों की वापसी पर उनका स्वागत करना था। केन्द्र की प्रथा के अनुसार, केन्द्रवासी पदयात्रा से लौटने वालों का दिल खोलकर स्वागत करते हैं। कुछ दिन पहले नोवी अफोन में हमारा भी स्वागत हो चुका था। आज हमें दूसरों का स्वागत करना था। फलतः हम स्वागत-स्थल पर आकर एकत्र हुए। इस समय दिन के साढ़े नौ बज चुके थे। पदयात्रियों को आधे घंटे की देर हो गयी थी। अतएव हमारे साथ ही साथ अधिकारियों की चिन्ता बढ़ गयी और तुरन्त एक मोटर पर हमारी गाइड को यात्रियों का पता चलाने के लिए भेजा गया था। गाइड कोई पांच मिनट बाद वापस आ गयी और उसने सूचना दी कि मेरा बेटा, विजय, सारे दल को 'लीड' कर रहा है। ठीक पौने दस बजे पदयात्री दो-दो की लम्बी कतार में, बाजे-गाजे सहित लौट आये। विजय सबसे आगे था। आते ही पदयात्री एक कतार में खड़े हो गये और हम प्रतीक्षारत यात्री उनके सामने दूसरी कतार में। फिर जोशीले नारे लगाये गये और अन्ततः थके हुये यात्रियों को पीने के लिये फलों का रस दिया गया।

इसी समय हमें बताया गया कि महेन्द्र का हाथ घायल हो गया है, अतः हम उन्हें केन्द्र के अस्पताल में ले गए और उनकी मरहम-पट्टी की। जब हमने उनसे सारी दास्तान पूछी तो उन्होंने बताया कि एक स्थान पर लिखा था, "कुत्ते से होशियार।" उन्होंने उसे न देखा और कुत्ते वाले इलाके में घुस गये। कुत्ता तो कुत्ता! उसने रपटाया और वे भागते हुए गिर पड़े। वस्तुतः उनका सारा बदन छिल गया था और दर्द कर रहा था।

दोपहर को हम फिर, रोज की तरह, स्नान के लिए समुद्र तट की ओर गये और जब लौटे तो चार बज चुका था। आते ही हमें बताया गया कि आज सायंकाल साढ़े छः बजे एक गाइड हमें पित्सुंदा के दर्शनीय स्थल दिखाने ले जायेगी। हम तो इसके लिए उधार खाये बैठे थे, अतः निर्दिष्ट समय पर,

निश्चित स्थान पर एकत्र हो गये। इस बार भारतीयों में मैं और मेरे पति ही दर्शनीय स्थल देखने के लिये आगे आये थे।

दर्शनीय स्थल

कोई आध घंटे तक पैदल चल चुकने के बाद हम एक सवखोज (सरकारी खेत) में आ गये। हमारी गाइड हमें उस स्थान की ओर लिये चल रही थी जहाँ खुदाई में पांचवीं शताब्दी की कुछ इमारतें मिली थीं। एक स्थान पर मिट्टी के फूटे हुए बरतनों के ढेर थे। गाइड ने हमें बताया कि १९५२ ई० में जब सवखोज की जमीनों की गुड़ाई हो रही थी तो किसी कर्मचारी का फड़ुआ किसी मिट्टी के बरतन से टकराया और फूट गया। कर्मचारी को उत्सुकता हुई और उसने आस-पास की कई गज जमीन खोद डाली। यहाँ उसे मिट्टी के ढेरों बरतन मिले जिसमें उसे तरह-तरह के सिक्के और इस बात के प्रमाण मिले कि इन बरतनों में शराब भर-भर कर रखी जाती थी। सवखोज अधिकारियों ने तत्काल पुरातत्व विभाग को सूचना दी और जमीन में पायी गयी सारी वस्तुएँ उसी विभाग को भेज दीं। विभाग ने सिक्कों का अध्ययन किया और बताया कि सिक्कों में यूनानी, रोमन और अरबी सिक्के अधिक थे। प्रायः सभी सिक्के पाँचवीं शताब्दी के आस-पास के थे और इस बात के प्रमाण थे कि यह क्षेत्र विशेष रूप से विकसित आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्र था, जहाँ दूर-दूर के देशों से व्यापार होता था। मिट्टी के बरतनों में मोजेक और सेरा-मिक्स के भी कुछ नमूने मिले थे। मोजेक बनाने के लिए समुद्री तट पर पाये जाने वाले नन्हें-नन्हें पत्थरों का प्रयोग किया जाता था।

१९५२ ई० में पुरातत्व विभाग ने उक्त स्थल पर खुदाई कार्य आरम्भ किया। वहां उन्हें कुछ ऐसी इमारतें मिलीं जिनसे पता चलता था कि पित्सुंदा नगर पाँचवीं शताब्दी में भी मौजूद था। इसका पुराना नाम पोटियस था। उस समय पित्सुंदा का इलाका यूनानी क्षेत्र में पड़ता था और उस पर यूनान का ही अधिकार था। पोटियस नाम तक यूनानी है। उस काल में पोटियस नगर बीस मील के घेरे में फैला हुआ था और उसका केन्द्र थी इंकित झील।

हमने जमीन के भीतर पायी गयी इमारतों के खंडहर देखे। ये इमारतें दो गिरजों की हैं जहाँ उपासना-स्थल के साथ-साथ एक बड़ा-सा आँगन भी है। जनता इसी आँगन में खड़ी होकर अपने धर्माचार्य के प्रवचन सुनती थी। सम्प्रति इन गिरजों की दीवालें और गोल खंभे सिर्फ डेढ़-दो फुट की उंचाई तक बचे हैं जो अपनी प्राचीनता का राग अलाप रहे हैं। दोनों गिरजे साथ-साथ बने थे। उनमें से एक छोटा था दूसरा बड़ा।

मुझे यह भी बताया गया कि नगर में अन्यत्र भी खुदाई की गई थी और प्राचीन इमारतों का पता चला था। गाइड ने हमें यह भी बताया कि कतिपय स्थानों में ईसा-पूर्व तक की बस्तियों का पता चला है, परन्तु हमने इन स्थानों की यात्रा नहीं की।

हमारे लौटने के मार्ग में एक छोटा सा दुर्ग पड़ा था, जो १८१० ई० में आक्रमणकारी तुर्कों से अपनी रक्षा के लिए रूसियों द्वारा बनवाया गया था। अब यह दुर्ग ध्वस्त अवस्था में है। वस्तुतः दुर्ग के नाम पर एक बड़ा-सा कक्ष है, जिसमें कुछ झरोखे बने हैं। सम्भवतः इन झरोखों की आड़ से आक्रामकों पर गोली चलायी जाती थी। दुर्ग से लगी-लगी एक मोटी-सी दीवाल भी है जो दुर्ग के दोनों ओर कोई पचास-पचास गज तक चली गयी है। लगता है, इस दीवाल को कभी छुआ-छेड़ा नहीं गया और उसकी प्राचीनता आज भी बरकरार है।

जहाँ उक्त दीवाल समाप्त होती है, वहीं एक छोटा-सा फाटक है जिसमें से होकर आदमी एक लम्बे-चौड़े मैदान में पहुँच जाता है। इस मैदान के बीचो-बीच एक गिरजा है जो प्रायः सभी यात्रियों को दिखाया जाता है।

मैंने अपनी योरोप यात्रा में इतने अधिक और इतने बड़े-बड़े गिरजे देखे हैं कि पित्सुंदा का उक्त गिरजा मुझे जरा भी नहीं जँचा। यह गिरजा न बड़ा ही कहा जा सकता है, न छोटा ही। हाँ, इसके साथ कुछ मनोरंजक घटनाएँ जरूर जुड़ी हैं जिनकी यहाँ चर्चा कर देना मैं असंगत नहीं समझती।

यह गिरिजा दसवीं शताब्दी में पित्सुंदा के नगर निवासियों द्वारा बनाया गया था और दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। मैंने इस गिरजे की एक छोटी-सी कोठरी

में दो कब्रें देखी हैं, जिनके बारे में पुराने ज़माने में यह मशहूर था कि वे दो प्रसिद्ध और पहुँचे हुए सन्तों की कब्रें हैं और जो भक्त उनका चुम्बन करता है उसके मन की मुराद पूरी होती है। उन दिनों इस बात का इतना विज्ञापन किया गया था कि दूर-दूर से भक्तगण इन कब्रों को चूमने के लिए आने लगे। परन्तु कब्र-चुम्बन के लिए भक्तों को निश्चित शुल्क अदा करना पड़ता था और जो लोग शुल्क अदा नहीं कर सकते थे उन्हें गिरजाधीन मठ में सात दिन तक कठोर श्रम करके कब्र-चुंबन के लिए पैसा पैदा करना होता था। पर न जाने कब कुछ मनचलों के मस्तिष्क में शंकाएं उत्पन्न हुईं और जब उनके प्रयासों से कब्रें खोदी गयीं तो मालूम हुआ ये झूठी और बनावटी कब्रें हैं और पैसा पैदा करने के लिए गढ़ी गयी हैं। अब इन कब्रों को फिर पहले जैसा ही रूप दे दिया गया है। कब्रों के ऊपर, दीवाल में ग्यारहवीं शताब्दी के कुछ चित्र भी हैं जो यत्र-तत्र धूमिल पड़ गये हैं, चिटख गये हैं।

गिरजे का हाल-कमरा सामान्यतः बड़ा और गुम्बद चौड़ा है, जिसमें हवा और रोशनी के लिए कुछ स्थान खुला छोड़ दिया गया है। मुझे बताया गया कि धर्म-केन्द्र होने के अलावा यह गिरजा एक गढ़ भी था जहाँ स्त्रियाँ और बच्चे शत्रुओं के आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकते थे। यहाँ गाइड ने मुझे एक स्थान दिखाया जो एक सुरंग थी। यह सुरंग बस इतनी ही चौड़ी थी कि उसमें से, एक-एक कतार में, लोग आसानी से चल फिर कर समुद्री किनारे तक पहुँच सकते थे।

गिरजे में दूसरी मंजिल पर हमें एक छोटा-सा कक्ष दिखाया गया जिसकी दीवाल के कोनों में ऊपर से नीचे तक झरोखे बने थे, जहाँ से दुश्मनों पर गोलियाँ चलायी जाती थीं। यह कक्ष गिरजे की सम्पत्ति (स्वर्ण एवं जवाहरात) को जुगाये रखने के लिए कोषागार का काम भी करता था।

गिरजे के हाल में एक बड़ा ही प्यारा चित्र है जिसमें माता मेरी, पुत्र ईसा को अपनी गोद में लिये दिखायी गयी हैं। वस्तुतः यह उस चित्र की प्रतिलिपि है जो कभी इसी गिरजे में रहता था। मूल-चित्र, मूल्य की दृष्टि से अमूल्य था। उसमें लाखों रुपयों के हीरे मोती जड़े थे। कहते हैं कि तुर्क लोग

अपने आक्रमण के समय उसे यहाँ से उठा ले गये थे।

गिरजा बड़े रम्य-स्थान में हैं। इससे कुछ ही दूर सनोवर के अगम्य वन आरम्भ हो जाते हैं।

इस प्रकार हम नये और पुराने पित्सुंदा की झांकी देखते हुए कोई नौ बजे अपने केन्द्र में लौटे। यहीं हमें पता चला कि रात को 'चुज्हीय जेची' (पराये बच्चे) नामक बड़ा प्रसिद्ध खेल होगा। इस फिल्म की प्रशंसा हमने मास्को में ही सुन रखी थी, अतएव हमने इसे देखने का निश्चय किया।

अस्तु, जब हम खेल के टिकट खरीदने गये तो हमें टिकट न खरीदने दिया गया। "आप लोग तो हमारे अतिथि हैं। आप क्यों टिकट खरीदेंगे।" अधिकारियों के इस तर्क के आगे हम नत-मस्तक हो गये और खेल देखने के लिए पहले से ही रिजर्व की गयी कुर्सियों पर बैठ गये।

अन्तिम दिन

अगला दिन पित्सुंदा का हमारा अन्तिम दिन था। उस दिन दोपहर को एक बजे हमें गागरा के लिए प्रस्थान करना था। अतएव हमें कूच की तैयारियाँ करनी थीं। अस्तु, नौ साढ़े नौ बजे जब हम नाश्ते से निपट कर अपना सामान एकत्र कर रहे थे तो मैंने अपने पति को खबर दी कि हमें दस बजे मोटर से जाना है। आधे घण्टे में छः आदमियों के कूच की तैयारी कर लेना तो शैतान के बूते की भी बात न थी। हमें आश्चर्य इस बात का था कि अधिकारियों ने तो हमसे कहा था कि बस एक बजे आयेगी और अब सहसा समय बदल दिया गया। सचमुच इस आकस्मिक परिवर्तन से हमें बड़ी खीझ हो रही थी। हम दस बजे किसी भी तरह जाने को तैयार न थे, इसलिए कि इतने कम समय में अपना बिखरा-फिका सामान एक स्थान पर जुटाना, कायदे से रखना आसान न था। मैं सीधे डाइरेक्टर के पास पहुँची और अपना निश्चय सुना दिया। "हम दस बजे न जा सकेंगे। कल तो आपने बताया था कि हमें एक बजे जाना है।"

"मगर दस बजे जाना है—यह आपसे किसने कहा?" डाइरेक्टर बोला।

"आप ही लोगों में से किसी ने कहा है—तभी तो मैं यहाँ आयी हूँ," मैंने उत्तर दिया।

"नि मोज्हेत बिच (असम्भव)!" डाइरेक्टर फिर बोला।

"तो हम किस समय जा रहे हैं?" मैंने पूछा।

"एक बजे!"

मेरी जान में जान आयी। बाद में मुझे पता चला कि मेरी गाइड को हमारे ग्रूप नंबर के सम्बन्ध में भ्रम हो गया था। हमारा ग्रूप-नम्बर पचहत्तर और मार्शरूट (यात्रा-मार्ग) नम्बर २८ था। उस दिन सुबह कूच करना था ग्रूप नम्बर छिहत्तर और मार्शरूट नं० २८ के यात्रियों को।

मैंने अपने कुटुम्ब को, जो अभी तक सामान उठाने-धरने में जुटा था, जाने का समय बताया और सबके जी को सन्तोष हुआ। सारा सामान कायदे से लगाया गया और हम कोई ग्यारह बजे तक आगे की यात्रा पर बढ़ने के लिए तैयार हो गये।

साढ़े ग्यारह बजे ओंकार जी ने मुझे सूचना दी कि हमें इस केन्द्र के प्रबन्ध के बारे में अपने विचार केन्द्र की सम्मति-पत्रिका में लिखने हैं। मेरे पति ने यह काम भी चलते-चलाते निपटा डालने का प्रयत्न किया। बेशक, इस केन्द्र में हम सम्मानित अतिथियों की भाँति रह रहे थे और छोटे-बड़े सभी कर्मचारी हमें खुश रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे, फिर भी हमारा यह अनुभव था कि यहाँ रसोईघर का प्रबन्ध ठीक नहीं है। इस रसोईघर के कुप्रबन्ध के बारे में हमने नोवी अफोन में ही सुन रखा था। यहाँ आने पर मुझे उसका व्यक्तिगत अनुभव भी हो गया। एक घटना तो मैंने स्वयं देखी थी। एक रूसी दम्पति को यहाँ का खाना देखकर इतना क्रोध आ गया था कि वे प्लेटें वगैरह लेकर सीधे केन्द्र के डाक्टर के पास शिकायत करने पहुँच गये थे। सचमुच खाने का यहाँ हम सबको कष्ट रहा और मैं चाहती थी कि सम्मति-पत्रिका में इसका उल्लेख कर दिया जाय, परन्तु ओंकार जी की राय थी कि इस विषय में चुप रहा जाय। फलतः रजिस्टर में मेरे पति ने वहाँ के रसोई-इतर

प्रबन्ध और अधिकारियों के मधुर स्वभाव एवं तत्परता की सराहना की और रसोई के इन्तजाम के संबंध में चुप्पी साध ली।

सम्मति-पत्रिका का कार्य समाप्त ही हुआ था कि गाइड ने मुझे बुला कर कहा कि यद्यपि हम औपचारिक रूप से संचालित पदयात्रा में भाग न लेकर स्व-संचालित यात्रा में 'वनवास' को गये थे, फिर भी हमें यह प्रमाण पत्र दे दिया गया है कि हमने औपचारिक पदयात्रा में भाग लिया है। ऐसा करने का कारण हमें यह बताया गया कि हमने ओंकार जी की मोच के बावजूद उन्हें साथ लेकर एक दिन समुद्री तट पर प्रकृति के बीच बिताया था।

हम तो समझ रहे थे कि चूँकि हमने पित्सुंदा की पदयात्रा में भाग नहीं लिया है, अतएव हम यात्री पदक, जिसका मैं पीछे उल्लेख कर चुकी हूँ, के अधिकारी नहीं रहे। गाइड ने मुझे बताया कि यदि हम एक पदयात्रा और कर लेंगे तो हमें पदक और प्रमाणपत्र दोनों ही मिल जायेंगे। मैंने गाइड को धन्यवाद दिया और पदक मिलने की सम्भावना का जिक्र अपने साथियों से किया, जो यह सुसंवाद सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुये। हमने तुरन्त ही निश्चय कर लिया कि हम अपनी अगली पदयात्रा आदलेर में करेंगे और सोची में हमें पदक और प्रमाणपत्र दे दिया जायेगा।

हमारी बस ठीक एक बज कर पन्द्रह मिनट पर छूटी। हमें विदा करने के लिए डाइरेक्टर, गाइड तथा केन्द्र के और बहुत से कर्मचारी बस तक आये और हमारी आगे की यात्रा की मंगलकामना करते हुए हमें शुभकामनाओं सहित विदा दी।

पित्सुंदा से गागरा तक की यात्रा केवल चालीस मिनट की थी। ये चालीस मिनट कब कट गये, इसका हमें पता ही न चला। हमारी बस काकेशिया के इस रम्य मार्ग पर उड़ी चली जा रही थी। यद्यपि धूप कसकर पड़ रही थी, फिर भी हम पहाड़ों की उँचाइयों, टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी रास्तों और हरीतिमा से बिछी भूमि में जैसे खो गए थे।

—:०:—

गागरा

गागरा में प्रवेश करते ही हमारा जी खिल उठा। एक ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर नैनीताल की भाँति के सुन्दर-सुन्दर घर, और दूसरी ओर सामने लहराता हुआ काला सागर ! और जब हम यात्री केन्द्र में पहुँचे तब तो हमारे हर्ष की सीमा ही न रही। तुरबाजा (यात्री केन्द्र) ठीक समुद्र के सामने था और तुरबाजे से उतरती हुई सीढ़ियाँ तट तक जाती थीं।

यहाँ तुरबाजे में यात्रियों के रहने के लिए खेमों और कमरों दोनों ही की व्यवस्था थी। परन्तु, इस समय तक हम खेमों के जीवन से ऊब गये थे और अब कमरों में रहना चाहते थे। इस समय दिन के दो बज रहे थे। शीघ्र ही हमें दोपहर का भोजन करना था और इसके लिए यहाँ के अधिकारियों को अपनी शाकाहारिता की पूर्व सूचना देनी थी। हम सीधे डाइरेक्टर के कमरे में पहुँचे और जब उसकी नजर हम भारतीयों पर पड़ी तो वह जैसे हकबका गया।

"आप लोग भारत से आ रहे हैं। कितने लोग हैं आपके साथ ?" उसने कुतूहल से पूछा।

"छः" मैंने उत्तर दिया।

"और आपने अपने आने की हमें पूर्व-सूचना भी न दी। हमें तो आप लोगों के लिए विशेष इन्तजाम करना था। बड़ी प्रसन्नता है कि आप हमारे यहाँ ठहर रहे हैं।"

"बात यह है कि पित्सुंदा केन्द्र में टेलीफोन है नहीं, वरना आपको सूचना मिल जाती।"

"खैर कोई बात नहीं। हम आप लोगों को कमरे में टिकाना चाहते हैं, परन्तु आजकल यात्रियों की इतनी भरमार है कि कमरे खाली रह ही नहीं पाते। देखिये, अभी कोई प्रबन्ध करता हूँ।" यह कहकर डाइरेक्टर ने घंटी बजाकर किसी अधिकारी को बुलाया और उसे स्थानीय भाषा में (रूसी में नहीं, अन्यथा

बात मेरी समझ में आजाती) कुछ निर्देश दिये जिसे सुनकर वह चला गया। कुछ ही मिनटों में वह कर्मचारी लौटा और डाइरेक्टर से बातचीत करने लगा। इस पर डाइरेक्टर ने हमें बताया कि उसने हमारे लिए विशेष अतिथियों वाले एक कमरे की और एक खेमे की व्यवस्था कर दी है। मैं उस कर्मचारी के साथ कमरा देखने आयी। कमरा दूसरी मंजिल पर ठीक समुद्र के सामने था। कमरे के आगे एक बरामदा था जहाँ बैठ कर यात्री समुद्र का मजा ले सकता था। कमरा काफी बड़ा था और उसमें चार पलंग, एक प्रसाधन मेज, एक खाने की गोल मेज, चार कुर्सियाँ, चार छोटी-छोटी नाइट टेबुल्स और छोटे-छोटे कालीन बिछे थे। हमने मन-ही-मन डाइरेक्टर को धन्यवाद दिया और दोनों दम्पति कमरे में तथा विजय और महेन्द्र खेमे में जम गये।

समुद्र-स्नान

डाइरेक्टर को हम अपनी शाकाहारिता की सूचना दे ही चुके थे। अब हम स्वतंत्र थे। अपने-अपने पलंग पर जम गए, परन्तु पलंग पर से दिखायी पड़ता हुआ सागर बराबर हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था। अतएव कोई आध घंटे तक थकान उतार चुकने के पश्चात् हम सब अपनी-अपनी तैराकी पोशाकें पहन तट की ओर चल दिये। तट तुरबाजे के नीचे ही था। तट पर जगह-जगह धूप-रक्षक छत्र लगे थे और दूर तक, एक कतार में, चादरों की पालें तनी थीं, जिनके नीचे हजारों व्यक्ति सूर्य की किरणों से बचने के लिए, विश्राम कर रहे थे। ऐसी व्यवस्था हमने अभी तक के किसी भी तुरबाजे में नहीं देखी थी। हमने भी अपने कपड़े-लत्ते एक छत्र के नीचे रखे और समुद्र में घुस पड़े। यहाँ हमें नहाने में विशेष आनन्द आया। यहाँ का जल हमें बड़ा ही स्वच्छ लगा।

समुद्र में, तुरबाजे के अधिकारियों की ओर से बराबर एक नाव तैरती रहती थी, जिसका काम था उन लोगों को बचाना जो अपनी लापरवाही, अथवा तैरते समय साँस फूल जाने, अथवा अन्य किसी कारण से समुद्र में डूबने-उतराने लगते हैं। समुद्र में जगह-जगह लाल झंडियाँ लगी थीं, जिनके आगे जाना निषिद्ध था।

आज हमने छक कर स्नान किया और खा-पीकर जो सोये तो शाम को कोई आठ बजे आँख खुली।

इस बीच महेन्द्र और विजय ने रात के सिनेमा टिकट और अगले दिन के लिए रीत्सा झील के टिकट खरीद लिये थे। रीत्सा झील दुनिया के सर्वाधिक रमणीय स्थानों में से है। इसकी यात्रा के लिए हमें पौने दो रूबल (आठ रुपए) प्रति व्यक्ति के हिसाब से, अलग से, टिकट खरीदने पड़े।

उस दिन नगर में तोल्स्तोय की प्रसिद्ध कृति 'युद्ध और शान्ति' नामक फिल्म चल रही थी। मैंने यह पुस्तक पढ़ी थी परन्तु उसकी फिल्म देखने की नौबत कभी न आयी थी। यह फिल्म गागरा के सबसे बड़े सिनेमा घर में चल रही थी। हम लोग तुरन्त तैयार हो गये और ठीक नौ बजे सिनेमा घर पहुंच गये। सिनेमा घर एक पहाड़ी पर बना था और ठीक समुद्र के सामने था। उसकी बाहरी इमारत भी बड़ी मोहक थी।

'युद्ध और शान्ति' फिल्म देख कर तो मैं एक नयी दुनिया में ही पहुंच गयी। इतनी उत्कृष्ट कोटि की फिल्में मैंने बहुत ही कम देखी हैं।

संक्षिप्त इतिहास

मैं इस स्थल पर जार्जिया प्रदेश का संक्षिप्त इतिहास, जैसा कि मुझे गागरा के गाइड ने बताया है, लिख देना चाहती हूं। जार्जिया जनतंत्र का रूसी नाम है ग्रूजिया जनतंत्र। सारे जनतंत्र का क्षेत्रफल ७२५०० वर्ग किलोमीटर है। जनतंत्र का दो-तिहाई भाग पहाड़ों से घिरा है। इन पर्वतों का नाम है काकेशिया पर्वत-माला। इन पहाड़ों की सबसे ऊँची चोटी एलबुर्ज समुद्री धरातल से ५६३३ मीटर (लगभग १९००० फुट) की उँचाई पर है।

जनतंत्र के बीच से सूरमी नदी जाती है जो उसे पूर्वी और पश्चिमी, अर्थात् दो प्रदेशों में विभाजित करती है। पूर्वी प्रदेश की सबसे बड़ी नदी है कूरा जो कास्पियन सागर में गिरती है। कूरा की अनेक सहायक नदियाँ भी हैं। पश्चिमी जार्जिया में ढेरों नदियाँ हैं, जो अधिक लम्बी नहीं हैं।

पूर्वी जार्जिया की जलवायु महाद्वीपीय और पश्चिम की शीतोष्ण है। सारा जार्जिया खनिज की दृष्टि से बड़ा सम्पन्न प्रदेश है, जहां १२०० किस्म की भिन्न-भिन्न धातुएँ पायी जाती हैं। सारे जनतंत्र में ४२ स्वास्थ्य-केन्द्र हैं।

जार्जिया जनतंत्र का इतिहास बड़ा पुराना है जो नवीं शताब्दी ई० पूर्व से आरम्भ होता है। ईसा की छठी शताब्दी तक वर्तमान जार्जिया प्रदेश के पश्चिमी भाग को कोलरिवदा और पूर्वी भाग को आइबेरिया कहते थे। उस काल में सारे जार्जिया की राजधानी थी म्त्सखेता। छठी शताब्दी से उसकी राजधानी हुई तिबिल्सी। १९५८ में तिबिल्सी की १५०वीं वर्ष गाँठ मनायी गयी थी।

३३७ ई० में यहाँ के लोगों ने ईसाई धर्म अपनाया। इसके पूर्व वे सूर्य, चन्द्र, सितारों आदि की पूजा करते थे।

जार्जिया की भूमि बड़ी समृद्ध है, इसीलिए इस पर भिन्न-भिन्न काल में अरबों, फारस वालों, इटालियनों और यूनानियों के हमले होते रहे। अकेले ३०० वर्षों तक तो यहाँ अरबों का ही राज्य रहा, परन्तु ११वीं और १२वीं शताब्दी में जार्जिया के जार डेविड द्वितीय के राज्यकाल में इस प्रदेश का सितारा फिर चमका और डेविड द्वितीय (१०८९-११२७ ई०) के उद्योग से सारे जनतंत्र का संगठन हुआ और वह एक सशक्त राज्य तथा उद्योग, विज्ञान, कला, राजनीति एवं अर्थशास्त्र का केन्द्र बना। तेरहवीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक फिर इस जनतंत्रमें मंगोलों, ईरानियों और तुर्कियों का आधिपत्य बना रहा।

बारहवीं शताब्दी में जार्जिया प्रदेश की आबादी ३० लाख थी जो अब कुल ४० लाख है इसमें से भी मूलतः जार्जियनों की आबादी २५ लाख है। शेष अन्य जनतंत्रों के निवासी तथा विदेशी लोग हैं।

१८०१ ई० में जार्जिया रूस का भाग बना और १८९० ई० में उसने मार्क्सवाद का रास्ता अपनाया। २६ फरवरी १९२१ को वह सोवियत जनतंत्र बना और १९३६ में उसे 'आर्डर आफ लेनिन' पदक प्रदान किया गया।

सारे जार्जिया में ४८०० मिडिल स्कूल पांचवीं से सातवीं कक्षा तक के, और २० हायर स्कूल हैं। इनके अतिरिक्त तिबिल्सी में स्तालिन यूनिवर्सिटी है,

जहाँ बारह फैकल्टियाँ हैं, जिनमें दो रूसी भाषा की हैं। यहाँ शिक्षा आद्यन्त निःशुल्क है, साथ ही उद्योगी विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है।

जार्जिया में दो स्वायत्तशासी जनतंत्र हैं--अवखास और अझारिया। इनके अतिरिक्त उसमें एक स्वायत्तशासी प्रदेश भी हैं। जार्जिया में कुल मिलाकर ७० क्षेत्र हैं, जो उद्योग, कला और प्रगति की दृष्टि से बड़े ही उन्नतिशील हैं।

१९४१ ई० में जार्जिया में एक विज्ञान अकादमी की भी स्थापना की गयी थी। कला के क्षेत्र में जार्जिया का रूस में प्रमुख स्थान है। यहाँ जितने उत्कृष्ट कोटि के कलाकार मिलते हैं, उतने रूस के अन्य देशों में नहीं मिलते।

मास्को की ही तरह यहाँ भी चिकित्सा निःशुल्क है और सबसे बड़ी बात यह है कि जार्जिया जनतंत्र में प्रत्येक ३३२ की आबादी पर एक डाक्टर उपलब्ध रहता है। निश्चय ही इतनी थोड़ी-सी आबादी के लिए एक डाक्टर की व्यवस्था करने वाले देश दुनिया में कम ही हैं। सारे जार्जिया में लगभग एक हजार अस्पताल हैं।

काले सागर की हमारी पहली यात्रा सुखूमी से लेकर सोची तक की रही। यह सारा प्रदेश जार्जिया स्थित अवखास स्वायत्तशासी जनतंत्र के अन्तर्गत है। अतः गागरा भी अवखास का ही एक भाग है और जार्जिया जनतंत्र का सबसे उत्तरी भाग। आज के गागरा का पाचवीं-छठी शताब्दी ई० पू० नाम था त्रिगचिग, उसके बाद उसका नाम पड़ा त्राखियार, और १४वीं-१५वीं ई० में इसके नाम में फिर परिवर्तन हुआ। १६वीं शताब्दी के आस-पास इस क्षेत्र का नाम गागरा पड़ा जो आज वैसा ही चला आ रहा है। इस प्रदेश की वृद्धि धीरे-धीरे ही हुई। यह उल्लेखनीय है कि १८९३ ई० में गागरा में ५ सैनेटोरियम थे। आज तो यहाँ बीसियों सैनेटोरियम हैं।

जिस यात्री केन्द्र में हम ठहराये गये थे उसके सामने ही ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के बीच एक घाटी-सी है। यह घाटी गागरा के लिए विभाजन-रेखा है। इसके एक ओर, अर्थात् यात्री केन्द्र के दाहिनी ओर, नया गागरा है और दूसरी अर्थात् बायीं ओर पुराना गागरा। नया गागरा प्रशासनीय केन्द्र है और पुराना गागरा स्वास्थ्य केन्द्र।

गागरा मुख्यतः खेतिहर प्रदेश है, जहाँ तम्बाकू की बहुतायत है। यहाँ से तम्बाकू का निर्यात किया जाता है। १९४९ ई० तक यहाँ तुर्शीफल—नीबू, नारंगी, आदि—बहुत पैदा होते थे, परन्तु उस वर्ष यहाँ पाला पड़ा जिसके कारण जमीन इतनी बिगड़ गयी कि ये फल पैदा होने प्रायः बन्द हो गये। परन्तु इस वर्ष, अर्थात् १९५९ में, पुनः ये फल अच्छी मात्रा में हुए हैं।

अगले दिन के हमारे कार्यक्रम में मुख्य थी—रीत्सा झील की सैर। गागरा से रीत्सा की दूरी लगभग ४० मील है। हमारी बस रीत्सा के लिए ठीक चार बजे अपराह्न के समय रवाना हुई और हम वहाँ ठीक सवा छः बजे पहुंच गये।

रीत्सा का मार्ग

इस स्थान पर मैं, पूर्णतः निष्कपट भाव से, यह स्वीकार कर लेना चाहती हूँ कि न तो मैं कवियित्री ही हूँ न प्रकृति-चित्रक, अन्यथा रीत्सा-यात्रा का कम से कम वैसा चित्रण तो करती जिससे कम से कम मुझे ही सन्तोष होता। रीत्सा यात्रा का वर्णन करते समय मैं अपने को सूरदास के उस गूंगे के रूप में अनुभव कर रही हूँ जिसे मिठाई अच्छी लगी है परन्तु उसके स्वाद का बखान करने में वह असमर्थ है। अतएव, मैं पाठकों से क्षमा चाहूँगी यदि मेरी कमजोरी के कारण वे रीत्सा एवं रीत्सा तक जाने वाले मार्ग का स्वर्ग-तुल्य प्रकृति-सौन्दर्य हृदयंगम न करें।

मेरी इस भूमिका से पाठकों को यह अनुमान तो लग ही गया होगा कि रीत्सा मार्ग को प्रकृति का वह वरदान प्राप्त है जो संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। बेशक, इस दृष्टि से काश्मीर का नाम लिया जा सकता है, परन्तु मेरी मुलाकात एक ऐसे सज्जन से हुई थी जिन्होंने दुनिया के बहुत से स्थानों और काश्मीर की तो तीन बार यात्रा की थी। उन्होंने बहुत सकुचाते हुए कहा था—स्वयं काश्मीर में भी रीत्सा जैसा प्रकृति-सौन्दर्य देखने को मिल सकता है, इसमें मुझे संदेह है।

अस्तु, मैं संक्षेप में इस यात्रा को लेखनीबद्ध करने का बाल-प्रयास कर रही हूँ।

पहले तो हम गागरा प्रदेश के बीच से होकर गुजरे—सड़क के दोनों ओर छोटे-छोटे एक मंजिले या दुमंजिले, बंगलेनुमा मकान, तम्बाकू और तुर्शी फलों के पौधों से महकती हुई भूमि, सिर उठाये हुए प्रहरी जैसे पर्वत-पुंज और दाहिनी ओर हहराता हुआ काला सागर। फिर कोई आधे घंटे बाद हम उस मार्ग से होकर बढ़े जिसके दोनों ओर हजारों फुट ऊँचे पहाड़ थे। इन पहाड़ों के बीच बनी हुई हमारी फीते-जैसी सड़क का तो अस्तित्व ही खो गया था। हमारी बस, बल खाती, इठलाती, नर्तकी की भांति दाहिने-बायें घूमती, अपनी मंजिल की ओर बढ़ रही थी। हमारे दाहिनी ओर तीव्रगामी ब्जिब सरिता, जैसे हमारा ही दामन पकड़े हुए, अपने प्रियतम से मिलने जा रही थी, अपने सारे यौवन को समेटे हुए, अपनी कलकल छलछल की स्वर लहरी पर झूमती हुई। सरिता के आंचल में उलझे हुए पापी पाषाण टूक-टूक हो जाने पर भी उसी के रस में डूब रहे थे। प्रायः ब्जिब में छपाक जैसी सी-सी सुनायी पड़ती, कुछ झाग-सा उठता हुआ दीखता और हमारी दृष्टि नदी के बीचो-बीच पड़े हुए किसी दैत्याकार पाषाण पर जम जाती। हमें लगता जैसे सरिता का सतीत्व इस दैत्य को ललकार रहा हो। सरिता के तट पर झूमते हुए वृक्षों तक को स्पर्श-रोमांच की अनुभूति हो रही थी। वे भी यत्र-तत्र अपनी जटायें फटकारे, सरिता का सारा यौवन पी जाने को जैसे आतुर लग रहे थे। हमारे नेत्र भी उन्हीं पाषाणों, उन्हीं वृक्षों की भांति, सीनाजोरी पर उतर आये थे। वे उसके सौंदर्य को पीते रहे, पीते रहे तब तक, जब तक उसके मार्ग में कहीं से एक विशाल पर्वत न आ गया और वह हमारी आंखों से ओझल न हो गयी।

पर्वत, पहाड़···पहाड़, पर्वत,·····चारों ओर जैसे आकाश से बातें करने वाले, पृथ्वी की छाती पर सवार, दैत्य। हाँ दैत्य, हमें भी इनसे भय लग रहा था। और चूंकि उनकी तुलना में हमारे चींटी जैसे मस्तिष्क ने, उनकी जड़ता की शाश्वता को चिरकाल से ही जाना-समझा था, इसीलिए हम अणुशक्ति के संग्राहक इन पंगु पर्वतों के आगे सीना ताने चले जा रहे थे निर्भय, निडर,

निशंक। सहसा इन दैत्यों का आकार बढ़ा—और·····औ·····र! ऊपर, नीचे, दायें, बायें·····पहाड़, पर्वत··पर्वत पहाड़···और क्रीत दासी की भांति उनके क्रोड़ में खेलने वाली गभी और गदराती हुई हरीतिमा—घास, वृक्ष, पौधे। और इन सबसे मोर्चा लेती हुई हमारी बस, जो इन पहाड़ों की छाती पर मूंग दलती हुई, ऊपर-ऊपर, बढ़ रही थी विश्वामित्र के शाप की तरह, पापियों का पीछा करने वाले चक्र-सुदर्शन की तरह।

सहसा हमें गाइड की आवाज सुनायी दी—"सावधान! बायीं ओर देखिये!"

बायीं ओर कुछ पर्वतों से जल रिस-रिस कर बह रहा था।

"इस पहाड़ का नाम है महिलाश्रु पर्वत। आप देख रहे हैं न! कैसे मनचले जल-कण हैं, कितने धीरे-धीरे बह रहे हैं, थम-थम कर। ये आंसुओं की नौ धाराएं हैं, गिनकर देख लें। तभी तो इस पहाड़ का पूरा नाम है नौ महिलाश्रु पर्वत! इन पहाड़ों ने कब और किसके विरह में आंसू बहाये, यह मैं नहीं जानता। हाँ, एक बात जानता हूँ कि यदि इनका नाम महिलाश्रु उचित है तो इनके जल में भी ७० प्रतिशत सुगन्ध होगी। आप जानते हैं बालाओं के आंसुओं में ७० प्रतिशत सुगन्ध-सार होता है।"

हम सब खिलखिला कर हँस पड़े और हमारी हँसी पहाड़ों ने दुगुनी शक्ति से लौटा दी। हमें लगा कि अपने बन्धु-पर्वतों के महिलाश्रुओं (मकराश्रुओं?) पर उनके अधिक सबल बन्धु हमारे ही साथ कहकहे लगा रहे हैं।

कुछ ही मिनटों पश्चात् ठीक हमारे सामने एक अति विशाल पर्वत-समूह खड़ा हो गया, जिसकी छाती पर कोढ़ जैसे बर्फ के धब्बे साफ झलक रहे थे। लग रहा था जैसे पाषाणयुग के किसी आदिम परिवार के निर्दय कर्त्ता ने अपने नाती पोतों को कस कर बगल में दबा लिया हो। इस पर्वत-समूह के ठीक नीचे हजारों फुट गहरा एक भयानक खड्ड था। मुझे तो यह खड्ड कुम्भी-पाक नरक का मुख्य द्वार-सा दिखायी दिया। आगे पीछे··दायें बायें·····पर्वत पहाड़···पहाड़ पर्वत।

"सावधान !" हमें गाइड की आवाज़ फिर सुनायी दी, "बायीं ओर देखिये ! यह है पुरुषाश्रु पर्वत ! बहाये हैं कभी पुरुषों ने ऐसे आंसू । देखिए, मैं आपको विज्ञान की एक नयी खोज बताऊँ—पुरुषों के आंसुओं में चालीस प्रतिशत मद्यसार होता है ।"

और हमारा पुरुष वर्ग, नरकद्वार की यात्रा के समय, अपने आंसुओं में मद्यसार का अनुभव करता हुआ, कहकहे लगाने लगा । सचमुच हमारे बायीं ओर एक पहाड़ से, झरने की भाँति, जल बह रहा था । "तो ये हैं पुरुषाश्रु" हमने सोचा और फिर हम अपने सामने की दुनिया में खो गये ।

कुछ मिनटों बाद हमारी बस रुकी और हम पहाड़ों के बीच एक मनोरम स्थान पर पहुँच गये । यहां हमें पन्द्रह मिनट तक विश्राम करना था । यहीं हमारी पूर्व परिचित बिजब सरिता ने एक अति रमणीक झील का रूप ले लिया था । इस झील का नाम था 'नीली झील' । झील देखने में तो छोटी थी परन्तु सुरम्यता की प्रतीक लग रही थी । यहाँ झील के एक ओर पाषाण-खंड थे और पत्थर की एक सुन्दर सी मूर्ति बनी थी, किसी सुन्दर वीर-युवक की, जो दोनों हाथ फैलाये जैसे संसार की बीभत्सता से मोर्चा लेता-लेता पथरा गया था । यह स्थान फोटोग्राफी के लिए एक मनोरम स्थल था । झील के किनारे कितने ही व्यक्ति, अलग-अलग, ग्रूपों में अथवा जोड़ों में फोटो खिंचा रहे थे । हमारे केमरे भी मचल उठे और हम, भिन्न-भिन्न रूपों में, उनके तमोमय हृदयों में बन्द हो गये ।

झील के ठीक ऊपर रेस्त्रां था, जहाँ सभी प्रकार के पेय सुलभ थे । हमने भी वहीं अपनी प्यास बुझायी और आगे की यात्रा पर जाने के लिए बस पर जम गये ।

हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये प्रकृति और हरीतिमा दोनों, बाहें पसार, हमारा स्वागत करती गयीं । पर्वतों, खड्डों और घाटियों का सिलसिला जैसे अनन्त लग रहा था । यहां हमने ऐसे-ऐसे पहाड़ देखे जो पहली नजर में किसी कलाकार द्वारा कायदे से काटे और पुनः सपाट किये हुए से लग रहे थे । एक

पहाड़ बिल्कुल जीने की तरह था, तो दूसरा ऊपर से सलोतर किन्तु नीचे चँदवे की तरह कटा हुआ।

"सावधान। बायीं ओर देखिये।" हमें गाइड की आवाज़ फिर सुनायी दी।

हम बड़ी देर तक बायीं ओर देखते रहे, परन्तु हमारे आगे, पीछे, दायें, बायें थे पहाड़, केवल पहाड़।

"जरा ध्यान से देखें! उस छोटे से टीले पर, देख रहें हैं न?" गाइड फिर बोला।

अब बात हमारी समझ में आयी। एक टीले पर पत्थर का भालू बना कर रख दिया गया था।

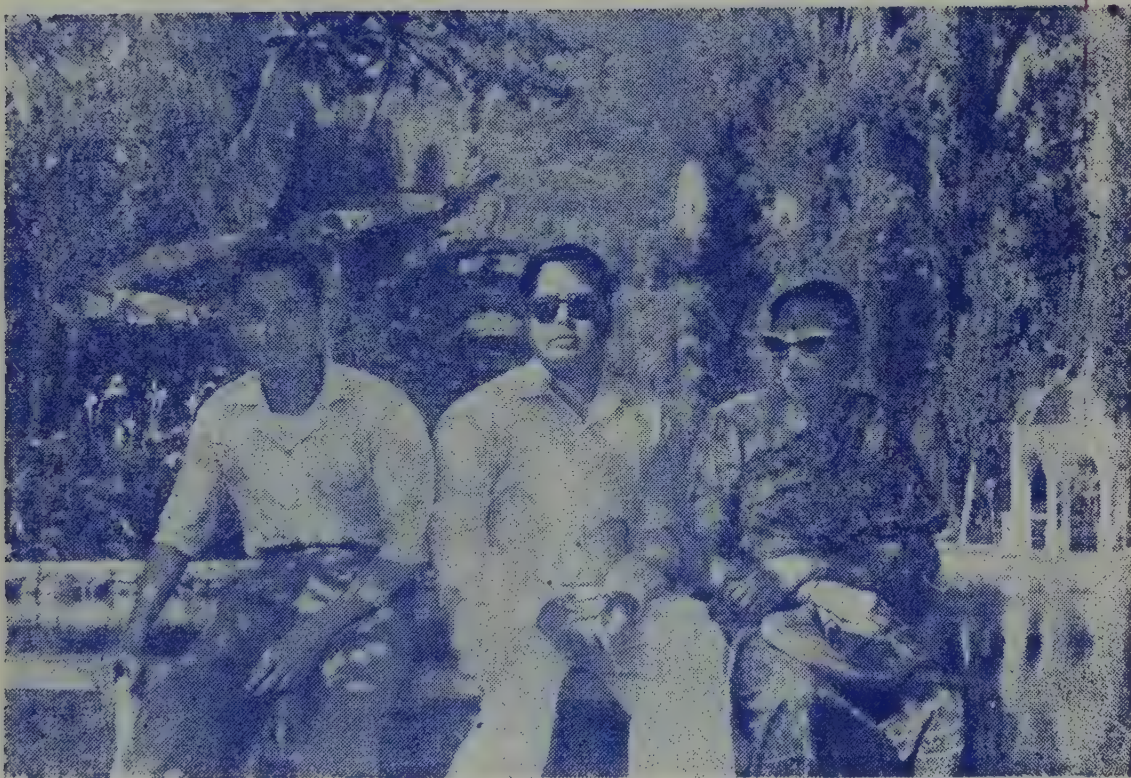
"आप जानते हैं," गाइड ने अपनी व्याख्या शुरू की—"कुछ साल पहले आप ही की तरह कुछ महिलाएँ यहाँ से होकर रीत्सा झील जा रही थीं। कुछ भालू उनके सौन्दर्य पर रीझ गये और कौन जाने क्यों उन पर हमला कर बैठे। फिर तो नारियों और भालुओं में जमकर युद्ध हुआ, और युद्ध में हार हुई भालुओं की। भालू दुम दबाकर भाग गये और नारियों ने अपनी विजय की जगत-घोषणा करने के लिए एक भालू की मूर्ति बनवाकर यहाँ रख दी। आप जानते हैं, उसी दिन से यहाँ की औरतें अपने को वीर समझने लगी हैं।"

हम गाइड के इस विचित्र निष्कर्ष पर जी खोल कर हँस दिये।

यात्री केन्द्र से लेकर रीत्सा झील के सारे रास्ते भर हमें, झील से आती हुई, यात्रियों से खचाखच भरी, हमारी जैसी, सैकड़ों बसें दिखायी दीं। सभी बसों के यात्रियों में विचित्र उत्साह था, स्फूर्ति थी, उमंग थी। जब वे बसें हमारी बस के सामने आतीं तो दोनों बसों के लोग एक स्वर में चिल्ला पड़ते—"प्रीवियेत" (हमारी शुभकामनाएं आपके साथ हैं)। हमें ये शुभकामनाएँ इतनी बार लेनी-देनी पड़ीं कि हममें से बहुतों का तो गला ही बैठ गया।

मैं अपने पास से होकर गुजरने वाली इन सैकड़ों बसों को देख-देख कर सोच रही थी—"न जाने यह रीत्सा कितनी लावण्यपूर्ण होगी, तभी तो वह हजारों व्यक्तियों को प्रतिदिन आकृष्ट करती है।"

चित्र सं० १



नोवी अफोन

यात्री केन्द्र पार्क

(दाहिने से बायें)—लेखिका, उनके पति डा० नारायणदास खन्ना और श्री महेन्द्र शुक्ल

चित्र सं० २



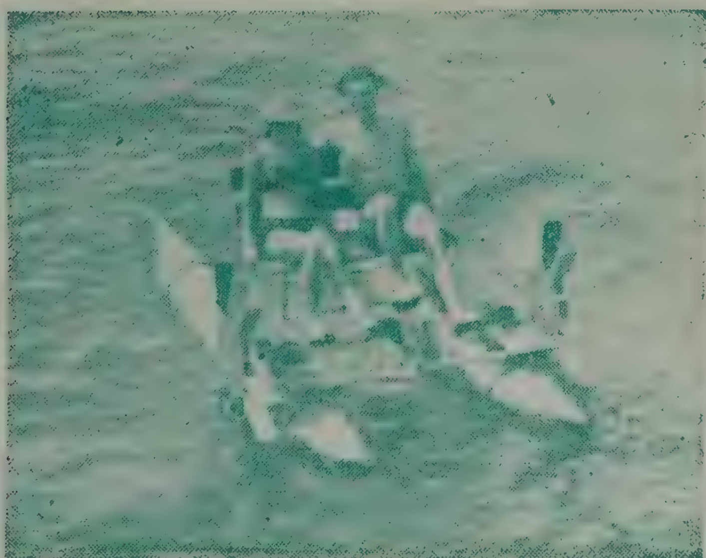
नोवी अफोन
पर्वत-शिविर में लेखिका

चित्र सं० ३



स्नान के बाद रूसी धूप में शरीर झुलसा रहे हैं

चित्र सं० ४



जल-साइकिल

चित्र नं० ५



तम्बुओं (पलाता) की पंक्ति

चित्र नं० ६



पित्सुंदा
काले सागर में रूसी स्नानार्थी लेखिका के पुत्र, विजय, के साथ



चित्र सं० ७

सोची

प्राव्दा सैनेटोरियम में



चित्र सं० ८

याल्ता

सैनेटोरियम अरियान्दा

सोची

प्रतिरक्षा मंत्रालय सैनेटोरियम को काला सागर
से मिलाने वाली यात्री-ट्राम (फनीकुलर)

चित्र सं० ९



चित्र सं० १०



प्रमुख सड़क कुरोर्तनया मार्ग

चित्र सं० ११



प्राव्दा सैनेटोरियम

चित्र सं० १२



मज़ेस्ता अस्पताल

सोची–मत्सेस्ता अस्पताल

चित्र सं० १३



इस कक्ष में गैसें सुँघा कर इलाज होता है

चित्र सं० १४



यहाँ हाथ-पैरों की गठिया बाई का इलाज होता है

सोची



चित्र सं० १५

बन्दरगाह



चित्र सं० १६

रेलवे स्टेशन

चित्र सं० १७



रीत्सा झील
(पृष्ठ-भूमि में
रीत्सा होटल)

चित्र सं० १८



सिम्फरोपल
कार्लमार्क्स
मार्ग

सहसा गाइड ने हमारा ध्यान हमारे साथ-साथ इठला-इठला कर बढ़ती हुई नदी की ओर आकृष्ट किया। यहाँ से गेगा नदी आरम्भ होती थी—वैसी ही कामिनी जैसी कमनीयता, वैसी ही कलकल-छलछल, उसका रस पीने को आतुर वैसे ही पाहन, वैसे ही वृक्ष, वैसे ही हम……

कोई पाँच मिनट बाद हमारी बस एक बहुत ऊँचे और सपाट से पहाड़ के नीचे से होकर गुजरी।

"जामक !" गाइड ने इस पहाड़ की व्याख्या की, "जामक कहते हैं दुर्ग को। और आप देख रहे हैं इसे। बिल्कुल दुर्ग है, दुर्ग। हमें अपने क्षेत्र की इस पहाड़ी पर गर्व है।"

हम इस दुर्गवत् पहाड़ी के आकार-प्रकार और उसके निर्माता किसी अदृष्ट पुरुष की कल्पना करते हुए अपनी यात्रा पर बढ़ते रहे।

"इधर देखिए यह नयी सरिता यूबशरा अपनी पुरानी सहेली गेगा से गले मिल रही है," गाइड बोला।

बेशक इस स्थान पर दो नदियों का संगम था। संगम ! और हमारी कल्पना के समक्ष प्रयाग की त्रिवेणी का संगम घूम गया। यूबशरा में और उसकी अन्य पूर्वगामी सहेलियों मे हमें तो कोई अन्तर न लगा।

सहसा गाइड ने हमें याद दिलायी अपनी मंजिल की। "हम रीत्सा से केवल दस मिनट की दूरी पर रह गये हैं, सिर्फ दस मिनट की दूरी पर। इस समय आप धरातल से ७३० मीटर की ऊँचाई पर हैं। जी हाँ, ७३० मीटर (२३०० फुट) और वह सामने का पहाड़—उसकी उँचाई है ३००० मीटर (१०,००० फुट)।"

ठीक इसी समय हम पर इन्द्र भगवान की कृपा होने लगी—पहले रिम-झिम, फिर टिप-टिप, फिर पटर-पटर।

हमारी आज की यात्रा का हमारी दृष्टि में बड़ा महत्त्व था। हम संसार का अद्भुत सौन्दर्य, प्रकृति की साकार रम्यता, देखने निकले थे न। आज हम

सब शुद्ध भारतीय पोशाक में थे—पुरुष वर्ग धोती कुर्ते में और नारियां लक-लकाती हुई साड़ियों में। हमारी बस भी सामान्य अर्थात् बन्द बस न थी। बस पर एक ही छत थी—आकाश की छत।

और हमारी हल्की-फुल्की वे वेशभूषा और खुली हुई छत को चुनौती दे रहे थे स्वयं देवराज इन्द्र। ड्राइवर ने बस तेज की परन्तु हम पटर-पटर से न बच सके। आखिर कोई पाँच मिनट बाद हम अपनी मंजिल पर पहुँच गये। रीत्सा झील अब हमारी आँखों के सामने थी। परन्तु सबसे पहले हमें अपने भीगते हुए धोती, कुरते और साड़ियों की चिन्ता थी। अतएव बस रुकते ही हम रीत्सा झील पर बने लकड़ी के प्लेटफार्म की ओर भागे। प्लेटफार्म पर लकड़ी की छत और जगह-जगह छत्र लगे थे।

झील के किनारे पहुँचते ही महाराज इन्द्र ने कुछ और जोर दिखाया, पर अन्ततः इतने उदार हो गये कि बादल छँट गये और सूर्य भगवान के दर्शन होने लगे।

—:o⁐o:—

रीत्सा झील

रीत्सा झील दुनिया की सबसे सुन्दर झीलों में से एक है। मेरे लिए तो वह सबसे सुन्दर झील थी क्योंकि मैंने उसके टक्कर की झील अपने जीवन में कभी न देखी थी। चारों ओर हरियाली से लदे हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के ठीक बीचोबीच नीली रीत्सा कोई दो मील लम्बी और छः फर्लांग चौड़ी थी। झील की गहराई कोई सवा सौ गज थी। झील के किनारे लकड़ी का एक बड़ा-सा प्लेटफार्म था जिस पर खान-पान के लिए रेस्ट्राँ और उपहार की चीजों के लिए कुछ दूकानें आदि थीं।

झील के उत्तर की ओर 'रीत्सा' नाम का एक होटल था जो बाह्य सौन्दर्य की दृष्टि से बड़ा ही रमणीक था। होटल १९४७ में बना था और झील के ठीक किनारे प्रकृति के सबसे मनोरम वातावरण के बीच बसा था। होटल से उतरती हुई सीढ़ियाँ सीधी रीत्सा तक चली गयी थीं (चित्र सं०८)।

रीत्सा झील में दसियों स्पीडबोटें दौड़ रही थीं जो यात्रियों को उसके सौन्दर्य का निकट से पान कराती थीं।

हमें गाइड ने पहले ही सचेत कर दिया था कि हम रीत्सा की रमणीयता में खो न जायँ और ठीक एक घंटे बाद बस पर पहुँच जायँ।

रीत्सा पर हमारी ही तरह के सैकड़ों लोग पहले से ही मौजूद थे। एक तो धोती कुरता और साड़ियाँ, दूसरे साँवली शक्ल। बिना बताये ही हमारा भेद खुल गया कि हम भारत से आये हैं।

"क्या आप लोग हमारे साथ फोटो खिचाने का कष्ट करेंगे?" कोई बीस बार तो यह इच्छा प्रकट ही की गयी थी।

भला इतने प्रेमपूर्ण आग्रह के बीच दूसरों के केमरों में बन्द होना कौन न पसन्द करेगा। परन्तु एक घंटे की तलवार हमारे सिरों पर इस बुरी तरह लटकी थी कि हमें अधिकांश मित्रों से हाथ जोड़ने पड़े। फिर भी हम सैकड़ों

बार तो खिंचे ही होंगे—जिसे भी मौका मिला उसने चट्ट से केमरे का क्लिक दबा दिया। लग रहा था कि रीत्सा में सबसे अधिक दर्शनीय, सबसे अधिक आकर्षक हमीं लोग थे। इसी बीच हमने अपने लिये स्पीडबोट के टिकट खरीद लिये थे। परन्तु स्पीडबोट पर कदम रखना हमारे लिये एक समस्या बन गयी थी। हमारी साड़ियों का बुरी तरह से पीछा हो रहा था और पचासों व्यक्ति हमारी ही बोट पर बैठना चाहते थे। आखिर हमारे लिए एक अलग बोट का प्रबन्ध किया गया, जिस पर हमारे कहने से हमारे अलावा हमारे दो निकट के रूसी मित्रों को और जगह दी गयी।

हमारी बोट पूरी रफ्तार से भागने लगी, और अधिक समय तक आंख के परदे पर टिका न रह सकने वाला प्राकृतिक सौन्दर्य हमारे केमरों में बन्द होने लगा।

हमारी बोट का ड्राइवर बड़ा रसिक था। उसकी बोट पर भारत से आये हुए मेहमान पहले कभी न बैठे थे। अतएव वह आवश्यकता से अधिक उदार बन गया था। उसने हमें बोट के सामने का शीशा पार कर हुड पर खड़े होकर फोटो लेने की अनुमति दी। इतना ही नहीं उसने बारी-बारी से हममें से प्रत्येक को अपनी जगह बिठाया और स्टीयरिंग ह्वील थमा दिया।

"आज मैं आपको स्पीड-बोट चलाना सिखाऊँगा, सीखेंगी ?" अन्त में ड्राइवर ने मुझसे प्रस्ताव किया और मैं राजी हो गयी। बस इस क्षण के बाद से बोट पर तब तक मेरा एकच्छत्र अधिकार बना रहा जब तक हम सब उतर न गये।

सामान्यता बोट यात्रा पर बारह मिनट लगते थे, परन्तु इस समय तो अधिकार हमारा था, अतएव पैंतीस मिनट तक हम रीत्सा का आनन्द लेते रहे और इस बीच उसका कोना-कोना झाँक आये।

मैं इस स्थल पर दो शब्द रूसी राष्ट्रनायक स्तालिन के बारे में भी कहना चाहूँगी। स्तालिन का जन्म जार्जिया में तिबिल्सी से कुछ ही दूर गोरी नामक एक कस्बे में हुआ था। अतएव रूस भर में सबसे अधिक जार्जिया जनतंत्र में ही स्तालिन को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इस बात का

अनुभव मैंने स्वयं किया है। अपनी स्पीड-बोट यात्रा के समय ड्राइवर ने मुझे, झील के ठीक किनारे स्तालिन का वह छोटा-सा मकान दिखाया, जहाँ वह राजनीति से फुरसत पाने पर प्रायः आकर रहा करता था। आज कल उसे सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र का रूप दे दिया गया है।

झील के किनारे हमने कुछ छोटे-छोटे बंगले-नुमा मकान भी बने देखे, जो सम्पन्न व्यक्तियों के निजी घर थे और जिन्हें यात्रियों को सामान्य किराये पर उठाया जाता था। प्रायः सभी मकान भरे हुए थे।

बेशक हमने झील की सैर कर ली थी, परन्तु हम झील के आस-पास के कुछ रमणीक स्थान और देखना चाहते थे। लेकिन अब इसकी सम्भावना न रह गयी थी क्योंकि हमारा एक घंटा पूरा हो गया था। मगर हम समय से फिर भी बस पर न पहुंच सके, इसलिए कि फोटो प्रेमियों के बीच इस बुरी तरह घिर गये थे कि पिंड छुड़ाना असंभव लग रहा था।

आखिर जब हम बस पर पहुंचे तो शाम के साढ़े सात बज चुके थे। हम जानते थे कि यदि हम केन्द्र में नौ बजे तक न पहुंचे तो फिर हम में से किसी को भी रात का भोजन न मिलेगा।

अस्तु, हमारी बस साढ़े सात बजे छूटी। रास्ते में वही ऊँचे-ऊँचे पहाड़, पेड़, पौधे, वही नदियाँ, वही भालू का स्मारक, जामक दुर्ग, महिलाश्रु एवं पुरुषाश्रु पर्वत।

मैंने रास्ते में बीसियों जगह मधुमक्खी पालन केन्द्र भी देखे। प्रत्येक में पचासों घरौंदे थे, जिनमें मधुमक्खियाँ शहद देती थीं। हमें हरेक केन्द्र में दो-दो तीन-तीन व्यक्ति एक छोटे से मकान में रहते हुए दिखायी दिये। मुझे बताया गया कि इस स्थान का शहद दूर-दूर तक प्रसिद्ध है।

गागरा एक छोटा-सा गांव है जहां गिनी-चुनी दूकानें और थोड़े से पार्क हैं, परन्तु सागर तट पर प्रकृति और हरीतिमा के बीच बसा होने के कारण, उसका विशेष आकर्षण है। यहाँ के अधिकांश निवासी वे हैं जो स्वास्थ्य लाभ के लिए रूस के कोने-कोने से आकर यहाँ के स्वास्थ्य केन्द्रों में बसे हैं।

यहां के लोग रूस के अन्य स्थानों की ही भाँति बड़े अतिथि-सत्कार प्रिय और मधुर भाषी हैं। वे भारतीयों का बड़ा मान करते हैं। मैं यहाँ एक छोटी-सी घटना का उल्लेख कर देना असंगत नहीं समझती।

एक अविस्मरणीय अनुभव

नाश्ते के बाद मेरे पति और ओंकार जी को अपने-अपने जूतों में पालिश कराने की सूझी। गागरा में ब्राउन जूतों की पालिश बड़ी कठिनाई से मिलती है और जूते में पालिश करने वाले लोग तो बहुत ही गिने-चुने हैं। केन्द्र में जूतों की पालिश का प्रबन्ध न होने के कारण मेरे पति और ओंकार जी दोनों सीधे बाजार चले गये और काफी ढूंढ़-तलाश के बाद उनकी मुलाकात एक लुंज-पुंज व्यक्ति से हुई जो जूतों से पालिश करके ही अपनी जीविका चलाता था। उसके पैर तो थे ही नहीं, हाथों के स्थान पर दो-दो उंगलियां थीं जिनके सहारे वह किसी प्रकार जूता और ब्रुश पकड़ कर अपना काम चला लेता था। उसका रूप देखकर दोनों को बड़ा तरस आया और अपने जूतों में पालिश कराने के लिए वे उसकी कुर्सी पर बैठ गये। वह वस्तुतः एक भूतपूर्व सैनिक था और सेना ही में रहने के कारण लुंज हुआ या।

सांवली सूरत शकल ने ही उसे बता दिया था कि उसके देश में आये परदेशी दूर देशवासी––भारतीय––हैं। अब क्या था। वह निकट के दोस्तों की भांति व्यवहार करने लगा, और भारत और नेहरू का नाम बड़े सम्मान से लेने लगा। भारतीय इस पंगु के भारत-प्रेम पर मुग्ध थे। आखिर उसका पालिश कार्य समाप्त हुआ और ओंकार जी ने उसे पैसे देने के लिए एक नोट उसकी ओर बढ़ाया।

नोट देखते ही—जैसे बिच्छू ने उसे डंक मार दिया हो—वह दो कदम पीछे हट गया।

"यह क्या कर रहे हैं, बाबू" उसने ओंकार जी से कहा।

"कम हों तो बता दो और दे दूंगा," ओंकार जी ने फरमाया।

"कम ! अजी आप लोग इतनी दूर से हमारे नगर में आये। आप हमारे मेहमान हैं और हम जरा से काम के लिए आपसे पैसे लें। छिः छिः"

"मगर भाई यह तो तुम्हारी मेहनत की कमाई है। यह लो, इनकार मत करो," ओंकार जी साग्रह उसे पैसे देने लगे।

परन्तु पैसे लेने से उसने बराबर इनकार किया और बराबर यही कहता रहा कि भारतीय उसके नगर में अतिथि हैं और वह उनसे किसी भी दशा में पैसे न लेगा।

यह घटना देखकर भारतीयों की सिट्टी-पिट्टी भूल गई थी। ऐसे में उन्हें क्या करना चाहिए यह वह खुद न जानते थे।

ठीक समय ओंकार जी को एक तरकीब सूझ गयी।

"आप सिगरट पीते हैं ?" उन्होंने पूछा।

"सिगरट ! जी हाँ, कभी-कभी !" पालिश वाले ने उत्तर दिया।

परन्तु जब उसे सिगरट देने के लिए ओंकार जी ने ज़ेब में हाथ डाला तो डिब्बा खाली और सिगरट नदारद।

आखिर मेरे पति ने आगे बढ़ कर एक दूकान से बढ़िया सिगरटों का एक डिब्बा खरीदा और कुछ ही मिनटों बाद दोनों फिर उसी पालिश वाले के सामने आ खड़े हुए।

"बाबू, कुछ भूल गये हैं क्या ?" उसने पूछा।

"नहीं दोस्त, तुम्हें सिगरट पिलाने आया हूँ, यह लो" मेरे पति ने कहा।

"अरे, काहे तकलीफ की आपने। मैं तो गाहे-बगाहे पीता हूँ, बस !" उसने कहा।

पालिश वाले ने सिगरट के कश लगाये और इधर-उधर की बातें करने लगा। आखिर जब दोनों भारतीय चलने लगे तो ओंकार जी ने सिगरेट का डिब्बा उसे थमाते हुए मिन्नत के साथ कहा—"आप ही इसे अपने पास रख लें।

और काफी देर तक ससंकोच ना नू करने के बाद उसने जैसे भारतीयों का मन रखने को वह डिब्बा उनसे लेकर अपनी जेब से रखा।

इस छोटी सी घटना ने हमारे मन में यह विश्वास और भी दृढ़ कर दिया था कि सोवियत संघ के दूरस्थ दक्षिणी प्रदेश में भी जन साधारण के मन में भारतीयों के प्रति प्रेम है, सम्मान है।

कलोनाद पार्क

मैं कह चुकी हूँ कि समुद्र तक जाने वाली सीढ़ियाँ मेरे यात्री केन्द्र में ही बनी थीं, अतएव हमें समुद्र स्नान की बड़ी सुविधा थी। हमने अपने काला सागर पर्यटन-काल में कभी-कभी समुद्र की वह लहर भी देखी है जो मुझे जीवन भर याद रहेगी। आज लहरें तट से इतने जोरों से टकरा रही थीं कि मैं बिहारी की नायिका बनी हुई थी—दो कदम समुद्र में आगे बढ़ती थी तो हौले से आने वाली कोई लहर मुझे तीन कदम किनारे की ओर ढकेलती थी। लहरों की इस धक्का-मुक्की में जो मजा है वह निश्चय ही अनुभव करने की चीज है।

तो आज घाट ही पर मेरी मुलाकात एक ऐसे सज्जन से हो गयी जिन्होंने मुझे यह सूचना दी कि आज रात को जार्जिया के कलाकार अपने जनतंत्र के जननृत्य का प्रदर्शन करेंगे। मुझे ऐसे नृत्यों में सदा ही बड़ी दिलचस्पी रही है। अतएव स्नान के तुरन्त ही बाद मैं 'कलोनाद' पार्क पहुँची जहाँ से मुझे टिकट खरीदने थे। अब 'कलोनाद' की चर्चा आ ही गयी है तो दो शब्द उसके बारे में भी कह दूं। अपने गागरा निवास काल में मैं प्रायः प्रति दिन ही इस पार्क में चहल कदमी करने आयी हूँ। यह पार्क गागरा का सबसे बड़ा और सर्वोत्तम पार्क है। इसमें जाने के लिए जो प्रवेश मार्ग है वह बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही आकर्षक हैं। इस मार्ग में उँचाई पर बीसियों स्तम्भ और कपाटहीन द्वार बने हैं। सामने हहराता हुआ काला सागर हिलोरें लेता है। यह प्रवेश मार्ग फोटोग्राफरों की आय का अच्छा साधन है क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में फोटुओं में

चार चाँद लग जाते थे। प्रवेश मार्ग के भीतर और बाहर कुछ लकड़ी की दूकानें हैं जिनमें तरह-तरह की वस्तुएँ बिका करती हैं।

पार्क से लगे-लगे ही समुद्र था। वहाँ जगह-जगह रेस्त्रां, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष फौवारे, कुंज, बैठने के लिए बेंचे और लेनिन और स्तालिन की प्रस्तर-मूर्तियाँ थीं। सागर और हरीतिमा के बीच पार्क की शोभा दुगुनी हो गयी थी।

इसी पार्क में वह नाट्य-मंच भी था, जिसके टिकट लेने के लिए हम वहाँ आये थे। परन्तु यहाँ आकर हमें पता चला कि टिकट घर बन्द है और शाम को ही खुलेगा। हमें टिकट घर के पास मँडराते हुए एक बूढ़ी ने देख लिया था, जो वहीं पास के एक रेस्त्राँ में काम करती थी। वह हमें देखते ही हमारे पास आयी और यह जान लेने पर कि हमें टिकट की आवश्यकता है बोली—"टिकट घर पाँच बजे खुलेगा। यद्यपि बहुत से टिकट बिक चुके हैं फिर भी मैं आपकी सहायता करूँगी। आपको जितने टिकट लेने हैं आप मुझे पैसे दे जायँ मैं टिकट लेकर रख लूँगी। और हाँ, मैं इसी सामने वाले रेस्त्राँ में काम करती हूँ।"

हमें इस दैवी सहायता से अत्यधिक प्रसन्नता हुई। हमने उसे सबसे आगे की सीटों के लिए पाँच टिकट के दाम दिये और नौ बजे आने का वचन दिया।

हम अपने वादे के अनुसार ठीक समय पर उक्त महिला के रेस्त्रां में पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही बूढ़ी ने हमें पाँच टिकट दिये जो रंगमंच के सबसे सामने की पहली सीट के थे। बूढ़ी हमारी साड़ियों पर फिदा थी। बड़े संकोच के साथ बोली—"मैं भारतीयों को बड़ा प्यार करती हूँ। मैं आप महिलाओं के साथ फोटो खिचाना चाहती हूँ ताकि अपने नाती-पोतों को दिखा सकूँ कि कभी मुझे भी भारतीयों से मिलने का सौभाग्य मिला है।"

जार्जिया के लोकनृत्य

हम बूढ़ी के इस संकोचपूर्ण प्रस्ताव से द्रवित हो उठे थे। इस प्रेम-पूर्ण अनुनय को ठुकराना पाशविकता होती। यद्यपि अगले दिन का हमारा

कार्यक्रम बड़ा व्यस्त था, फिर भी हमने उससे अगले दिन आने का वादा किया। साथ ही हमने भी उससे एक याचना कर डाली।

"हमने यहाँ के कलाकारों की कला की बड़ी प्रशंसा सुनी है। हम उन्हें अपनी ओर से एक गुलदस्ता भेंट करना चाहते हैं। क्या आप हमारे लिए एक गुलदस्ता बना देंगी ?"

"इस समय तो सारी दूकानें बन्द होंगी। पर मैं आपकी सहायता करूँगी। इस समय आप खेल देखने जायँ। मैं यहाँ बीस साल से काम कर रही हूँ। और यद्यपि पार्क में फूल तोड़ना मना है, फिर भी मैं कुछ न कुछ उपाय करूँगी ही।"

ठीक इसी समय थियेटर का एक कर्मचारी हमसे मिलने आया। उसने शायद यह अनुमान लगा लिया था कि हम नृत्य देखने आये हैं। वह आते ही हमसे पूछने लगा—

"आप हमारी कला देखने आये हैं ?"

"हाँ आये तो इसी विचार से हैं ?" हमने उत्तर दिया।

"तो हमारे डाइरेक्टर चाहते हैं कि आप लोग सार्वजनिक द्वार से प्रवेश न करके विशेष अतिथियों के द्वार से आयें। हमारे डाइरेक्टर वहाँ आपकी प्रतीक्षा करेंगे !"

इस अप्रत्याशित प्रेमाग्रह से तो हम गर्व से फूले न समा रहे थे। हमने उस व्यक्ति की मार्फत डाइरेक्टर को धन्यवाद कहलाया और पाँच मिनट में आने का वादा किया।

अब कलाकारों का सम्मान करना जैसे हमारा कर्तव्य बन गया था। अतएव हमने अपनी परिचिता को एक बार फिर गुलदस्ते की याद दिलायी और नृत्य शुरू होने के ठीक एक मिनट पहले विशेष अतिथियों वाले द्वार पर पहुँच गये।

यहाँ डाइरेक्टर महोदय पहले से ही हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। हमारे पहुँचने के पहले सभी दर्शक अपनी-अपनी सीटों पर जम चुके थे। डाइरेक्टर ने दोनों हाथ फैला कर हमारा हार्दिक स्वागत किया और हमें सबसे आगे की

सीटों पर बिठा दिया। अतिथि-द्वार से निकल सबसे आगे की सीट पर बैठते देख सारा दर्शक समाज भी जैसे हमें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखने लगा। बैठ जाने पर हमें कई ओर से 'इन्दीस्की, इन्दीस्की' (भारतीय, भारतीय) की फुसफुसाहटें सुनायी पड़ने लगीं। कितने ही लोग तो हमें उचक-उचक कर भी देखते रहे मानों उन्हें एक टिकट में दो तमाशे देखने को मिल रहे हों।

हमारे पीछे वाली सीट पर हमारे केन्द्र का डाइरेक्टर बैठा था। अभी आधा घंटा पहले ही हमने उससे उसके केन्द्र के रसोईघर की बदइन्तजामी की शिकायत की थी और उसने सब कुछ ठीक करा देने का वादा भी किया था। यहाँ जो उसने हमारा इतना सम्मान तथा हमें अपने से भी आगे की सीट पर बैठा देखा तो स्वयं हमारे पास आकर बोला—"देखिये, खेल समाप्त होने पर आप सब मेरी ही मोटर में चलें। चलेंगे न ?"

इस अनाहूत निमंत्रण को हम कैसे ठुकरा सकते थे।

अस्तु, कुछ ही मिनटों पश्चात् नृत्य आरम्भ हुआ। यहाँ प्रदर्शित नृत्य कला जार्जिया प्रदेश की विशष्ट कला थी, जिसकी मुख्य विशेषता थी पैरों का संचालन। बेशक मैंने इस प्रकार की कला के कुछ अंश मास्को में देखे थे, परन्तु यहाँ जनतन्त्र के कलाकारों द्वारा, उन्हीं के जनतन्त्र में, उसे देखने की बात ही भिन्न थी। उनके इस लोक नृत्य में भावों और हस्त संचालन की नहीं, गति की महत्ता थी। पूरे पैरों पर भागते हुए, उकड़ूँ बैठ कर तेज चलते हुए, पंजों के बल, एड़ी के बल, बराबान (एक प्रकार की बड़ी ढफली) की लय पर नृत्य आदि न जाने कितने प्रकार नृत्य हमने देखे। भारतीयों के लिए इस प्रकार की कला निश्चय ही नूतन, नवीन और अनूठी थी।

इन्टरवल होते ही हमारी परिचिता बूढ़ी हमारे लिए कागज में लिपटा हुआ एक गुलदस्ता लायी, जिसे हमने दूसरों की आँखों से बचा छिपा कर रख लिया।

अन्तिम दृश्य पूरा हो चुकने तथा परदा गिरने के पहले श्रीमती उर्मिला गुलदस्ता लेकर, भारतीय नृत्य की मुद्रा में, झूमती इठलाती जो रंगमंच पर

पहुँचीं तो पहले तो दर्शक समाज ने यह समझा कि कोई भारतीय नर्तकी अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन करने मंच पर आयी है और वे जोरों से तालियाँ पीटने लगे, परन्तु जब उन्होंने अपना गुलदस्ता, रूसी-हिन्दी भाई-भाई कहकर, वहाँ के कलाकारों को भेंट किया तब तो दर्शक समाज तथा मंच पर एकत्र सभी कलाकारों ने पूरी लय और ताल के साथ जो तालियाँ बजायीं तो समा बँध गया। हमारे सम्मान में सभी दर्शक खड़े होकर देर तक तालियाँ बजाते और 'हिन्दी-रूसी भाई-भाई' तथा 'मीर द्रूज्हबा' (शान्ति और मित्रता) के नारे लगाते रहे। हमारे देखते ही देखते मंच पर एकत्र अनेक महिला-कलाकारों ने, भारतीयों के प्रति अपना सम्मान दिखाने के लिए, श्रीमती ओंकार को इतना चूमा कि कुछ देर तक तो उनके गाल कल्लाये ही होंगे। हमारे गुलदस्ते की भेंट, भारतीयों की ओर से, न केवल कलाकारों के सम्मान की सूचक थी, अपितु हमें तो यह लग रहा था कि वहाँ एकत्र दर्शक समाज अपने कलाकारों और अपने जनतंत्र के प्रति गर्व का अनुभव कर रहा था।

हमारे बाहर निकलते ही बहुत से व्यक्तियों ने हमसे भारत और भारत की नृत्यकला के सम्बंध में अनेकों प्रश्न किये, जिनका हमने योग्यतानुसार उत्तर दिया।

हमारे यात्री केन्द्र के डाइरेक्टर बराबर हमारे साथ रहे और हम सब को अपनी ही गाड़ी में बिठाकर केन्द्र तक ले आये।

दूसरे दिन दोपहर को साढ़े तीन बजे हमें गागरा से आदलेर के लिए प्रस्थान करना था। हमें सुबह ही सामान बाँध कर तैयार रखना था। इस कार्य में हमें अनुमान से अधिक समय लग गया और जब हम अपने वायदे के अनुसार कलोनाद पार्क के फाटक पर पहुँचे तो हमारी परिचिता बूढ़ी किसी छोटे बच्चे के साथ कहीं जाती हुई हमें फाटक पर ही मिल गयी। और जैसे ही उसने हमें देखा कि बोल उठी —"मैं तो आप लोगों का रास्ता, देखते-देखते थक गयी थी। मैं समझ रही थी कि आप किसी काम में फँस गयी होंगी और न आयेंगी।"

हमने विलम्ब से आने के लिए उससे क्षमा मांगी और उसकी इच्छानुसार उसकी कई फोटुएँ खींच कर उसके पते पर भेज देने का वादा कर कोई एक घंटे बाद फिर केन्द्र में लौट आये।

हमारी बस ठीक साढ़े तीन बजे गागरा से आदलेर के लिए रवाना हुई। और हम पहाड़ों और समुद्र के बीच एक सँकरी-सी मोटर रोड पर भागते रहे। बेशक, हम प्रकृति की हरीतिमा के बीच चले जा रहे थे परन्तु सच यह है कि इस मार्ग पर हमें कोई उल्लेखनीय चीज न दिखायी दी।

कोई आधे घंटे की यात्रा के पश्चात् हमें एक बड़ा-सा पुल मिला, जो प्सोऊ नामक एक नदी पर बना था। वस्तुतः यह नदी जार्जिया को रूसी समाजवादी संघ सोवियत जनतंत्र से अलग करती थी। यह नदी कोई ५० मील लम्बी है और देखने में साधारण-सी लगती है।

★

आदलेर

पुल पार करते ही हम जार्जिया जनतंत्र से निकल कर रूसी समाजवादी संघ सोवियत जनतंत्र में आ गये। यहाँ हमें अपनी-अपनी घड़ियों को एक-एक घंटा पीछे करना पड़ा, इसलिए कि यहाँ मास्को टाइम चलता था। हमारी बस ठीक एक घंटे की यात्रा के बाद आदलेर के यात्री केन्द्र में पहुँच गयी।

आदलेर उक्त सोवियत जनतंत्र में स्थित क्रास्नोदर प्रदेश में एक औसत दर्जे की बस्ती है, जहाँ नियमित रूप से यात्रियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए एक यात्री केन्द्र है। हमें इसी यात्री केन्द्र में टिकाया गया था। यह केन्द्र १९५३ ई० में बनाया गया था। आदलेर क्रास्नोदर प्रदेश का सबसे दक्षिणी और सोवियत जनतंत्र का सम्भवतः सबसे पश्चिमी क्षेत्र है।

आदलेर का क्षेत्र प्सोऊ और कुजेरस्ता नदियों के बीच पड़ता है। वस्तुतः आदलेर को, सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के निर्णयानुसार, १९३४ में एक इलाके का रूप दिया गया था। यह इलाका निकटस्थ सोची के इलाके में से काट कर बनाया गया था।

आदलेर इलाके का क्षेत्रफल कोई डेढ़ हजार वर्गमील है। यहाँ की स्थायी जनसंख्या लगभग ३०,००० है जो गर्मियों के दिनों में, जब यात्रियों की भरमार रहती है, कोई एक लाख तक हो जाती है। प्रतिवर्ष प्रायः ५०,००० व्यक्ति तो यहाँ विश्राम के लिए ही आते हैं। आदलेर में मूल रूसियों के अतिरिक्त आर्मीनिया, मल्दाविया, इस्तोनिया, यूनान आदि के निवासी भी रहते हैं।

जलवायु, धन्धे और व्यापार

आमतौर से आदलेर की जलवायु ऊष्ण है। यहाँ हवा का औसत तापमान १३ डिग्री सेन्टीग्रेड रहता है। यहाँ कभी-कभी बर्फ भी पड़ती है और उस समय तापमान शून्य से नीचे कोई ७ डिगरी तक हो जाता है।

परन्तु इतना कम तापमान कभी-कभी ही होता है। यहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ पड़ती है जो गर्मी भर बनी रहती है। यह इलाका सोवियत संघ के उस क्षेत्र में है जो फल-फूल, बाटिकाओं और वनों का भांडार है। यहाँ तरह-तरह के और कीमती वृक्ष हैं जिनकी लकड़ी इमारतें बनाने के काम आती है। इसीलिए यहाँ इमारती लकड़ी और फर्नीचर का एक बहुत बड़ा कारखाना है। यहाँ के वनों में भालू, बनैला सुअर, हिरन आदि भिन्न-भिन्न जानवर पाये जाते हैं। आदलेर इलाके में १० कलखोज (सामूहिक कृषि संस्थान), जिनसे प्रति वर्ष ३ करोड़ ३० लाख रूबल की निकासी होती है, ६ सबखोज (सरकारी कृषि संस्थान) तथा एक मोटर ट्रैक्टर स्टेशन है। आदलेर में मुख्यतः चाय, तम्बाकू, तेजपात, अंजीर आदि की विशेष कृषि होती है।

यहाँ कई तरह के कारखाने हैं जिनमें मुख्य हैं—मछली का कारखाना जहाँ तरह-तरह की मछलियों पर प्रकिया करके उन्हें देश के भिन्न-भिन्न भागों में भेजा जाता है। अकेले १९५७ ई० में ही यहाँ से मछली से भरी साढ़े पन्द्रह लाख बोतलें सोवियत संघ भर में निर्यात की गयी थीं।

मछली के कारखाने के अतिरिक्त यहाँ चाय की फैक्ट्री, फलों के रस और जेली मुरब्बे का कारखाना, मिनरल वाटर फैक्ट्री, प्रीफैब्रीकेटेड गुड्स फैक्ट्री, पक्षियों के मांस की फैक्ट्री तथा एक पन-बिजली घर है।

आदलेर में जेली-मुरब्बे के कारखाने से रूस को एतत्संबंधी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में बड़ी सहायता मिलती है। १९५७ ई० में इस कारखाने से कोई ८० लाख रूबल का सामान निर्यात किया था।

आदलेर सोवियत संघ के उन थोड़े से स्थानों में से हैं जहाँ चाय की खेती बहुत बड़ी मात्रा में की जाती है। १९५७ में आदलेर की चाय फैक्ट्री ने रूस को बहुत बड़ी मात्रा में चाय सप्लाई की थी। इस इलाके के कतिपय कार्यकर्ताओं को, उनके श्रम के लिए, 'समाजवादी श्रमवीर' के तमगे मिले हैं। यहाँ के लोगों का कहना है कि वर्तमान सप्तवर्षीय योजना में तो उनके इलाके का नक्शा ही बदल जायेगा।

आदलेर में ६० स्कूल, एक संस्कृति भवन, १३ सिनेमा घर, १२ कृषि क्लब, १० पुस्तकालय और कतिपय किन्डरगार्टेन तथा शिशु-गृह हैं।

आदलेर इलाके में १ सैनेटोरियम, ४ विश्रामगृह, ३ यात्री केन्द्र और २ पेंशन हाउस हैं।

सम्प्रति अधिकारी आदलेर को नगर की हैसियत देने के संबंध में विचार कर रहे हैं और यदि उन्होंने इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का निश्चय किया तो इसे नये नगर का नाम होगा—बेस्तूझेव। यहाँ कतिपय नये विश्रामगृह, नयी-नयी पक्की सड़कें, रहने के बड़े और सुविधाजनक मकान आदि बनाये जाने की योजना है।

केन्द्र के सामने एक बड़ा-सा अस्पताल बन रहा है जहाँ १५० मरीजों को रखने की व्यवस्था की जायेगी। यह अस्पताल बनकर प्रायः तैयार हो चुका है।

दूसरे दिन हमें शहर दिखाने के लिए निमंत्रण दिया गया। हमारे साथ एक पथ प्रदर्शिका भी थी जो हमें आदलेर के इतिहास तथा उसके कतिपय स्थानों के महत्त्व के संबंध में बताती जा रही थी। वह हमें वृक्षों तक की जन्म-पत्री समझा-समझा कर उनके स्थानीय महत्व पर प्रकाश डाल रही थी।

हम लोग क्रास्नया ऊलित्सा (लाल सड़क), पेर्वया माया ऊलित्सा (पहली मई सड़क), लेनिन ऊलित्सा और वार्शीलोवा ऊलित्सा जैसी प्रमुख सड़कों से होते हुए बाजार में आ गये। यह बाजार बहुत कुछ भारत की मंडियों जैसी थी, जहाँ फल, तरकारियाँ, जरूरत के छोटे मोटे सामान आदि बिक रहे थे। हमारे पहुँचते ही दूकानदार हमें उचक-उचक कर देखने लगे मानो हम उनके लिए कोई मोटी मुर्गी हों।

रास्ते में हमें लेनिन स्मारक मिला। यह स्मारक लेनिन मार्ग पर था। स्मारक के रूप में लेनिन की एक आदमकद मूर्ति थी, जो पाषाण के आधार-स्तम्भ पर बड़ी शानदार लग रही थी।

हम कोई आध घंटे की चहलकदमी के बाद एक बड़े से पार्क में आ गये जो सुन्दरता की दृष्टि से तो नहीं, बेशक सघनता और छाया की दृष्टि से

उल्लेखनीय है। इस पार्क में एक कब्र है जो 'ब्रात्सकाया मगीला' (भाइयों की कब्र) के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि यह कब्र उन रूसी सैनिकों की याद दिलाती है, जिन्होंने दुश्मनों से मातृ-भूमि की रक्षा करते हुए अपने प्राणों की बलि दी थी।

आदलेर के साथ-साथ दिसेम्ब्रिस्टों के प्रसिद्ध रूसी लेखक, और रूसी लेखक पुश्किन के मित्र, बेस्तूज्हेवा मार्लीन्स्कवा का नाम जुड़ा है। कहते हैं कि इस लेखक की जिन्दगी बड़ी तूफानी थी। वह तत्कालीन पार्टी "उत्तरी समाज" का सदस्य था और तिबिल्सी, दरबेन्त, अनापे, तमानी, कुताइसी सुखूमी आदि स्थानों में भी रहा था।

२० जून १८३७ ई० को वर्तमान आदलेर इलाके में, जहाँ उस समय उक्त लेखक रह रहा था, दुश्मनों का हमला हुआ था जिसमें वह मारा गया था। इस व्यक्ति की एक प्रस्तरमूर्ति काला सागर के किनारे के पार्क में बनी हुई है।

दक्षिणी संस्कृति उद्यान

दूसरे दिन नौ बजे हमें आदलेर के सवखोज़ (सरकारी कृषि संस्थान) के एक पार्क 'दक्षिणी संस्कृति' को देखने जाना था, परन्तु कुछ अनिवार्य विलम्ब हो जाने के कारण हम यात्री-केन्द्र से साढ़े नौ बजे से पहले न निकल सके। यह पार्क आदलेर की मुख्य बाजार और हमारे केन्द्र से कोई एक मील की दूरी पर, ठीक समुद्र के किनारे, बसा था। सम्प्रति यह पार्क कोई १९ हेक्टेयर में है। इस पार्क को आरम्भ में कब और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता।

कहते हैं कि १९१७ की महान अक्तूबर क्रान्ति के बाद इसका विकास हुआ और १९३५ में इसे 'दक्षिणी संस्कृति उद्यान' का नाम दिया गया। १९३९-१९४१ में इसका क्षेत्रफल केवल ४ हेक्टेयर था। पार्क की विशेषता यह है कि पहले तो वह आकार में बहुत बड़ा है, दूसरे उसमें दुनिया के बहुत से देशों के वृक्ष लगाये गये हैं। भारत की मोरपंखी और घुइयाँ के पौधे भी हमें दिखाये गये। घुइयाँ एक तालाब के बीचो-बीच उगी हुई थी। गाइड का कहना

था कि यह हमारी जलवायु में नहीं हो सकती। इसी तालाब में कई तरह के कमल और कमलगट्टे भी हमें देखने को मिले।

आज रविवार था, अतएव पार्क में कई स्कूलों के छोटे-छोटे बच्चे सफ़ेद कमीजें पहने और लाल टाइयाँ लगाये घूम रहे थे। हम भारतीय इन बच्चों के बीच बड़ी बुरी तरह घिर गये। बच्चों के साथ आयी हुई शिक्षिकाएँ भी हमसे तरह-तरह के प्रश्न करने लगीं। सभी भारत और उसकी शिक्षा-प्रणाली के बारे में जानने को उत्सुक थीं। हम इधर उनसे बातचीत कर रहे थे, उधर उन लोगों ने आनन-फानन एक पेशेवर फोटोग्राफर बुला लिया। और जैसे ही फोटोग्राफर आया कि हमसे बड़े शिष्ट ढंग से अनुरोध किया गया कि हम बच्चों के साथ फोटो खिचायें। सभी बच्चों ने भारत का नाम सुना था और वे अपने सामने हम भारतीयों को देखकर हमसे बातचीत करने के लिए बड़े उत्सुक लग रहे थे। उनकी शिक्षिकाओं ने हमसे कुछ सामान्य रूसी शब्दों के हिन्दी पर्याय पूछे—नमस्ते, धन्यवाद, कृपया आदि और हमें यह विश्वास दिलाया कि जब वे किसी भारतीय को देखेंगे तो इन शब्दों का प्रयोग अवश्य करेंगे। इन धरती के लालों के बीच हमारा पौन घंटा कब और कैसे कट गया, इसका हमें पता ही न चला।

हमारे साथ आयी हुई गाइड, हमें पार्क के पेड़ों और पत्तों का इतिहास बता रही थी और मुझे विश्वास है कि कोई भी (स्वयं हम भी) उसके इस इतिहास में कोई रुचि न ले रहे थे। पता नहीं यहाँ के गाइडों को यात्रियों के सामने पेड़ पत्तियों का इतिहास समझाने में क्या मज़ा मिलता है?

हम ठीक साढ़े बारह बजे फिर केन्द्र में लौट आये। आज हमें साढ़े तीन बजे अपनी अगली यात्रा पर, अर्थात् सोची के लिए प्रस्थान करना था।

केन्द्र के ठीक पीछे, कोई पाँच मिनटों तक, कुछ झाड़ियां पार करने पर म्ज़िम्ता नदी पड़ती है, जिसमें नहाने की हमें इसीलिए सलाह दी गयी थी कि वहाँ की धार तेज थी और नदी कहीं भी कमर तक पानी से अधिक गहरी न थी। हमने उसमें स्नान तो किया, परन्तु उसका पानी इतना ठंडा

और गन्दा था कि सभी का जी खराब हो गया। हमें यह भी बताया था कि आदलेर में काला सागर का जल गन्दा है, अतएव हम लोगों ने वहाँ स्नान न करना ही उचित समझा। काला सागर भर की अपनी सम्पूर्ण यात्रा में अकेले आदलेर में ही हमने समुद्र-स्नान नहीं किया।

सोची के लिए प्रस्थान

हमारी बस ठीक साढ़े तीन बजे सोची के लिए रवाना हुई, परन्तु वह केन्द्र के बाहर सड़क पर आयी ही थी कि मैं बैठे-बैठे बेहोश होने लगी। मुझे बेहोश देखते ही सारे सहयात्रियों को जैसे काठ मार गया। बस रुकी और कोई पानी लेने दौड़ा, कोई डाक्टर को फोन करने, किसी ने पंखा ले लिया और कोई सिर के नीचे लगाने के लिए किसी मुलायम चीज की खोज करने लगा। मेरे साथ घटी इस छोटी-सी घटना से हमारे सभी साथी बुरी तरह परेशान हो उठे थे। सभी किसी न किसी प्रकार की सहायता देने के लिए व्यग्र थे। बस के ड्राइवर ने जो मेरी हालत देखी तो तुरन्त अपनी बोतल की आधी बची शराब जमीन पर फेंक उसमें नल का ताजा पानी भरने के लिए बाहर दौड़ गया।

जिस स्थान पर यह घटना हुई थी उससे कोई पचास कदम आगे अस्पताल की एक कार खड़ी थी, जो इस बात की द्योतक थी कि कोई डाक्टर किसी मरीज को देखने आया है। बस का एक सहयात्री दौड़ कर उस डाक्टर को बुला लाया और डाक्टर ने नब्ज देख कर मुझे एक इंजेक्शन लगाया। मेरी हालत कुछ सुधरी और मुझे होश आ गया। डाक्टर ने मुझे सूँघने के लिए कोई तेज दवा दी और बस-यात्रियों से पूछा कि यदि उनके पास कोई शीशी हो तो वह रास्ते के लिए थोड़ी सूँघने की दवा और दे दे। इस भड़भड़ में खाली शीशी कहाँ मिलती। फलतः हमारे एक रूसी साथी ने अपनी शीशी का सारा यूडीक्लोन, जो यात्री के लिए बड़ी ही आवश्यक वस्तु है, फेंककर वही शीशी डाक्टर को दे दी। मेरे पति को यह सुझाव दिया गया कि वे मुझे यहीं अस्पताल में भरती कर दें। बस अस्पताल की ओर चल दी, परन्तु मेरे पति ने सोची चलने का ही आग्रह किया, और बस सोची के रास्ते हो ली।

आदलेर से सोची तक का मार्ग, रीत्सा मार्ग को छोड़कर अभी तक मेरे देखे गये सभी मार्गों से मनोरम था—पक्की, अस्फाल्ट की सड़क, एक ओर पहाड़, पहाड़ के नीचे करीने से लगाये गये वृक्षों की कतारें, छायादार वृक्ष, प्रकृति का अनुपम स्वरूप। हम लगभग एक ही घंटे में सोची आ गये।

सोची के प्राकृतिक सौन्दर्य की कहानियाँ मैंने भारत ही में सुन रखी थीं। मुझे तो यह भी बताया गया था कि जिसने सोवियत संघ आकर सोची की यात्रा नहीं की, उसका रूस आना ही व्यर्थ हुआ। सोची में आने पर मुझे एक और कहावत सुनायी गयी जिसका आशय था—यदि काकेशिया आकर रीत्सा नहीं देखी तो भाड़ झोंकी।

सौभाग्य से हमने रीत्सा भी देख ली और सोची भी पहुँच गये। सोची की सुन्दरता के दृश्य हमने मास्को में सिनेमा के पर्दों पर बहुत देखे थे, पर आज जब हमारी बस उसी नगर की सड़कों से होकर दौड़ रही थी तो वे सारे दृश्य, जैसे पृष्ठभूमि में पड़कर, चर्मचक्षुओं के आगे अपना समस्त सौन्दर्य लिये साकार हो उठे थे। यद्यपि मैंने इन सड़कों पर कोई चार पाँच मिनट तक ही यात्रा की थी, फिर भी मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँची थी कि नैसर्गिक सौन्दर्य की दृष्टि से सोची नगर, रूस में मेरे देखे गये उत्तम से उत्तम नगरों में से एक था।

सोची

हम कोई एक घंटे तक बस यात्रा कर चुकने के बाद सोची स्थित यात्री केन्द्र में आ गये। यहाँ आकर मैं तो पूर्ववत् स्वस्थ हो गयी परन्तु मेरे पति का स्वास्थ्य गड़बड़ा गया। उनका शरीर पत्ताने लगा और सिर में जोरों की पीड़ा होने लगी। तभी शाम को ६ बजे कहीं से कोई साहब हमारे पास आये और बोले—"मैं यात्री केन्द्र के कन्सर्ट डिपार्टमेन्ट का इन्चार्ज हूँ। आज हमारे यहाँ विशेष नृत्य का आयोजन किया गया है। आप लोग भी उसमें भाग लें।"

"पर हमें, आप लोगों जैसा तो नृत्य आता नहीं," हमने उत्तर दिया।

"कोई बात नहीं, आप चाहेंगे तो हम सिखा देंगे," उसने हमें बताया।

"तो इतना आसान है आपका नाच ?" मैंने पूछा।

"आसान तो नहीं, लेकिन हम अपने अतिथियों की हर प्रकार से सेवा करते हैं," उसने अत्यन्त विनीत स्वर में कहा।

रंगमंच के प्रांगण में

अस्तु, हमने उनसे नृत्य देखने का वादा किया और जैसे ही हम कोई आध घंटे बाद, नृत्य मंच पर पहुँचे कि वही सज्जन बड़ी शिष्टता के साथ आकर हमसे मिले और हमारे बैठने के लिये तुरन्त ही एक लम्बी-सी बेंच (वहाँ प्रायः सभी व्यक्ति बेंचों पर बैठे थे) सबसे आगे डाल दी। हम भी बेंच पर जम गये और बाल-डान्स का आनन्द लेने लगे। एक नृत्य समाप्त होते ही हमारा ध्यान लाउड स्पीकर से सुनायी पड़ती हुई आवाज की ओर आकृष्ट हुआ—"मित्रों, हमें बड़ी प्रसन्नता है कि आज हमारे बीच हमारे सम्मानित अतिथि बैठे हैं। आप लोग बहुत दूर यानी इन्डोनीशिया से हमारे केन्द्र में आये हैं। हमारी शुभ कामनाएँ उनके साथ हैं।"

यह घोषणा सुनते ही सैकड़ों व्यक्तियो ने तालियाँ बजायीं और उचक-उचक कर हमारी ओर देखने लगे। हम भी इधर-उधर देखते हुए तालियां बजाने लगे—आखिर इस केन्द्र में इन्डोनीशिया ही क्या, दुनिया में किसी भी देश के अतिथि आ सकते हैं, आते ही हैं।

परन्तु शीघ्र ही हमारा भ्रम दूर हो गया और हम समझ गये कि घोषणाकर्ता ने घोषणा हमारे लिये की थी, लेकिन हमारी राष्ट्रीयता अपनी इच्छानुसार, अनचाहे, अनजाने, बदल ली थी। जब हमें घोषणाकर्ता की गलती का पता चला तो हमने तुरन्त ही उनकी इस गलती की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और दुबारा उन्होंने जो घोषणा की वह इस प्रकार थी—"दोस्तों, क्षमा करना, मुझसे भूल हो गयी है। हमारे मेहमान इन्डोनीशिया के नहीं, इन्डिया के नागरिक हैं।"

इंडिया का नाम सुनते ही वहाँ उपस्थित समाज ने और भी जोरों की तालियां बजायीं और कुछ रूसियों ने 'हिन्दी रूसी भाई-भाई' के नारे भी लगाये। इस चिल्ल-पों के बीच भी घोषणाकर्ता की आवाज हमें बराबर सुनायी देती रही—"हमें विश्वास है कि हमारे मेहमान हम सोची निवासियों की शुभ-कामनाएं अपने देश और नेहरू को भी देंगे। हिन्दी रूसी मित्रता जिन्दाबाद।"

इन नारों और इस अप्रत्याशित सत्कार से हम गद्‌गद और गर्वित हो रहे थे। वस्तुतः भारत और मास्को से हजारों मील दूर इस कोने में अपने और अपने देश के प्रति इस प्रकार की जन-भावनाओं की हमने कल्पना भी न की थी।

एक घटना

परन्तु इसी खुशी के वातावरण में एक छोटी-सी घटना भी घट गयी। हमारीं ही बेंच पर हमारे एक रूसी मित्र, जो पिछले १५, १६ दिनों से हमारे ही ग्रूप में बराबर हमारे साथ रहे थे, बैठे थे। दुर्भाग्य से उन्होंने उस दिन कुछ ज्यादा पी ली थी। चूंकि वे हमारे पास बैठे हुए लगातार बातें कर रहे थे—इस समय विजय और महेन्द्र इन रूसी सज्जन को जगह देने के लिए

स्वेच्छा से खड़े हो गये थे—अतएव वहाँ घूमते हुए एक पुलिस वाले की निगाहों में चढ़ गये। वह पुलिस वाला उनके पास आया और बोला—"ऐ महाशय, आप जरा मेरे साथ आइये।" और यह कह कर वह उन सज्जन को वहाँ से सरका ले गया। बात पुलिस की थी। रूस में विदेशियों के साथ घुलमिल कर एक रूसी का बातचीत करना यों भी संदेहास्पद है। हम अपनी जगह चिन्तित थे कि पता नहीं पुलिस वाला हमारे इन मित्र को क्यों ले गया। इधर लोगों ने हमें बड़े सम्मान से बिठाया। उपस्थित समाज तो हमारी ओर देख देखकर जैसे अपने मन को शान्त कर रहा था। फिर भी हमसे वहाँ अधिक न बैठा गया और हम अपने रूसी मित्र का पता चलाने के लिए वहाँ से उठ गये और केन्द्र द्वार पर पहुँच गये। वहाँ देखा तो पुलिस वाले और कुछ अन्य लोगों तथा हमारे रूसी मित्र में वाक्‌युद्ध छिड़ा हुआ था जो हमारे पहुँचते ही बन्द हो गया। अब हमारा शक और भी बढ़ गया। मेरे पति सीधे पुलिस वाले के पास गये और उससे पूछा—आखिर बात क्या है ? पुलिस वाले ने उन्हें सलाम मारा, और बड़ी शिष्टता से कहा—"मैं आपसे एकान्त में कुछ बात करना चाहता हूँ।"

इस पर कुछ उपस्थित सज्जनों ने 'यह अनुचित होगा, यह ठीक नहीं है,' कह कर आपत्ति की। अब हमारा शक और बढ़ा। जरूर कोई गम्भीर बात है—हमने मन ही मन सोचा।

मेरे पति ने तुरन्त पुलिस वाले का हाथ पकड़ा और शेष साथियों को वहीं रहने का निर्देश देकर फाटक के बाहर चले गये। पुलिस वाले ने उनसे पूछा, "आप उस मोटे से आदमी को जानते हैं जो आपके पास बैठा था ?"

"अजी बहुत अच्छी तरह से, हम कोई पन्द्रह दिन से साथ-साथ घूम रहे हैं।" मेरे पति की बात सुनते ही पुलिस वाले का मुंह फक पड़ गया और वह बोला—"तब ठीक है ! बात यह है कि वह पिये ज्यादा है और ऊल-जलूल बक रहा है। उसके मुंह से गन्ध आ रही है। मैंने सोचा, वह आप लोगों के पास बैठा हुआ आपको तंग कर रहा है, इसीलिए मैं उसे यहाँ खिसका लाया।

मेरा यही इरादा था कि आप लोग यह समझ लें कि उन्हें विदेशियों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए।"

"परन्तु उसके व्यवहार में आपको क्या खराबी दिखी। मुझे तो कोई ऐसी वैसी बात न दिखायी दी।"

"मैं यह देख रहा था कि आपके साथी और हमारे मेहमान खड़े हैं और यह साहब आपके पास जमे बैठे हैं।"

"नहीं, नहीं, उन्हें मैंने ही बिठाया था," मेरे पति ने झूठ बोला।

"तब कोई बात नहीं। मुझे क्षमा कीजिए, मेरा कोई बुरा इरादा न था।" पुलिस वाले ने उन्हें समझाया।

और सचमुच उसका कोई बुरा इरादा न था—इस बात का पता उसके बार-बार माफी मांगने और बातचीत के ढंग से ही चल रहा था।

हम दोनों अब अपने रूसी मित्र के पास आ गये और उनका हाथ पकड़ कर उन्हें अपने साथ ले जाने लगे। "कोई बात नहीं। बात खत्म हो गयी, चलो मेरे साथ चलो।" यह कहते हुए मेरे पति उसे खींचने लगे।

पुलिस वाले ने भी कहा—"हाँ, अब आप जाइये। बात खत्म हो गयी।"

परन्तु हमारे मित्र को रूसी गुस्सा आ गया, विदेशियों के सामने उनका अपमान जो हुआ था। वे चिल्ला कर बोले—

"नहीं बात खतम नहीं हुई। तुम सबके सामने माफी मांगो तब छोड़ूँगा।"

पुलिस वाले को माफी मांगना अपना अपमान लग रहा था। फिर इससे यह बात भी जाहिर हो जाती कि उसने बेकार ही एक नागरिक को तंग किया है। नतीजा यह हुआ कि पुलिस वाले ने माफी मांगने से इनकार किया और कुछ गर्मी दिखायी। पुलिस तो पुलिस ! हमारे मित्र भी गर्म हो गये और नौबत हाथापाई की आ गयी। हमने और कुछ अन्य लोगों ने बीच बचाव का प्रयत्न किया, पर बेकार।

पुलिस वाले को भी रूसी गुस्सा आ गया और वह दौड़कर टेलीफोन पर पहुँच गया। वह थाने से मदद मंगा कर हमारे मित्र को बड़े घर पहुँचाना चाहता था। मेरे पति दौड़कर टेलीफोन पर पहुँचे और हाथ से फोन का कनेक्शन काटते हुए बोले—"मगर भाई, उसने तो पी है और पीने पर आदमी क्या नहीं करता; पर तुम तो संतुलित हो। बात खत्म करो और यह टेलीफोन वाली बेवकूफ़ी मत करो।"

"मगर साहब आपने देखा नहीं वह मेरे साथ किस बुरी तरह से पेश आया है। मैं उसे नहीं छोड़ सकता। अभी जेल भिजवा कर रहूँगा।"

"पर गल्ती तो सरासर तुम्हारी है। तुम बिना पूरी बात समझे-बूझे उसे हमारे पास से उठा क्यों लाये, अगर तुमने मामला आगे बढ़ाया तो फिर अनचाहे भी मुझे बीच में पड़ना होगा।"

इस छोटी-सी धमकी से पुलिस-वाले के होश-हवास गुम हो गये और उसने तुरन्त टेलीफोन रख कर मुझसे कहा—"तो आप अपने दोस्त को समझा लीजिए न!"

"चलो सब ठीक किये देता हूँ", मेरे पति ने कहा।

और हम बाहर निकल कर जबर्दस्ती अपने मित्र को पकड़कर उनके खेमे में ले गये। आखिर उन्होंने हमें वचन दिया कि वे अब पड़कर सोयेंगे और बात आगे न बढ़ायेंगे।

दूसरे दिन एक बात और हुई। वस्तुतः हममें से किसी ने भी हेली-काप्टर का मजा न लिया था। सोची से हेलीकाप्टर उड़-उड़ कर आदलेर तक जाते थे और बीस मिनट में वहाँ पहुँच जाते थे। इनका किराया भी पौने तीन रूबल (लगभग १३ रु०) प्रति व्यक्ति था, जो हमारे अनुमान से अधिक न था। अतएव हमने अगले दिन हेलीकाप्टर की योजना बनायी। हमारे लिए हेलीकाप्टर पर चढ़ना आनन्द या मजे की चीज़ न होकर केवल कुतूहल की चीज़ थी। जिसने साल भर में बीसियों यात्राएँ हवाई जहाज पर की हों, और वह भी राकेट को मात करने वाले तीव्रगामी जहाजों की, उसे अन्य किसी भी वाहन पर उड़न-सुख नहीं मिल सकता। तो उस दिन हमें अपनी

जिज्ञासा की तुष्टि के लिए हेलीकाप्टर पर चढ़ना था। परन्तु हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी हमें उसका टिकट न मिला और हमारी जगहें रिजर्व न हुईं। हाँ, हमें यह आशा जरूर दिलायी गयी कि हम लोग छः बजे हेलीड्रोम (हेलीकाप्टर का हवाई अड्डा) पर पहुंचें, वहीं कोई व्यवस्था होगी।

इस समय शाम के सवा पांच बज चुके थे। हम अभी तक यात्री-केन्द्र पर ही थे। मुँह हाथ धोने और कपड़े पहन कर तैयार होने में हमें काफी समय लग गया। जब हम केन्द्र से निकल कर टैक्सी पर बैठे, उस समय छः बजने में दस मिनट शेष थे। हमने टैक्सी वाले से हेलीड्रोम चलने को कहा।

टैक्सी हेलीड्रोम की ओर मोड़ दी गयी। हम लोगों के बारे में ड्राइवर से रहाइस न हुई। बोला—"आप लोग हेलीकाप्टर से जायेंगे कहाँ ?"

"आदलेर," मैंने जवाब दिया।

"आदलेर आप हेलीकाप्टर से क्यों जा रहे हैं। आप चाहें तो टैक्सी ले लें, या बस अथवा रेल से चले जायँ।" उसने सुझाव दिया।

"और हेलीकाप्टर से क्यों न जायँ ?" मैंने उत्सुकतावश पूछा।

"पहली बात तो यह कि यह बड़ा मंहगा हैं—एक-एक आदमी पर पौने तीन रूबल। पौने तीन रूबल में तो आप सबके सब टैक्सी में जा सकते हैं। और दूसरी बात यह कि हैलीकाप्टर अशांत यान है। वहाँ की भड़भड़ से तो आपकी शान्ति में भी बाधा पड़ेगी।"

परन्तु तब तक हम हेलीड्रोम पर पहुँच चुके थे। हमने टैक्सी वाले को पैसे दिये और उसका शुक्रिया अदा करते हुए उसे बिदा किया। हमारे पहुँचते ही एक हेलीकाप्टर उड़ता हुआ वहीं आ गया और उस अति छोटे से मैदान में इतने धीरे से, इतने मजे से, खड़ा हो गया जैसे हम और आप खड़े-खड़े बैठ जाते हैं। हमारे सौभाग्य या दुर्भाग्य से हेलीकाप्टर पर कोई स्थान उपलब्ध न था। परंतु यात्रियों के उतरते समय की भड़भड़ और पास जाकर डिब्बे जैसी बैठने की जो जगहें देखी तो हमारे हौसले पस्त पड़ गये। शायद ड्राइवर ठीक कहता था, हमें हेलीकाप्टर से न उड़ना चाहिए—हमने भी यही सोचा। फिर

भी हमने अगले दिन की उड़ान के लिए कुतूहलवश हेलीकाप्टर की छः सीटें रिजर्व करायीं और हेलीड्रोम से बाहर आ गये ।

सोची की मंडी

हम चहलकदमी करते हुए रास्ता नाप ही रहे थे कि हमें भारतीय मंडियों जैसी एक बाज़ार दिखायी दी । हम उत्सुकतावश बाजार में पहुंचे—प्रसंग-वश यह भी कह दूँ कि 'बाजार' शब्द रूस में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—जहाँ रखे हुए तरह-तरह के फल हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे । यहाँ हमें लखनौआ शहदपुरी खरबूजों जैसे बड़े-बड़े, लाल-लाल और गोल-गोल खरबूजे दिखायी दिये । हम अपने संयम पर काबू न रख सके । तीन साल से हमने खरबूजा जबान पर भी न रखा था, अतएव कुछ खरबूजे खरीदने के लिए हम एक दूकान पर खड़े हो गये । खरबूजे मँहगे थे फिर भी हम उन्हीं से पेट भरना चाहते थे । परन्तु खरबूजों की दूकान पर खड़े होते ही हम चारों ओर से उत्सुक व्यक्तियों से बुरी तरह घिर गये । मिनटों में भारतीयों के आने की खबर सारे बाज़ार में बिजली की तरह फैल गयी । हम तो यहाँ कुछ खरीदने आये थे लेकिन बन गये जैसे बिक्री की वस्तु और वस्तु भी ऐसी जिसे खरीदने के लिए असंख्य खरीदार हों ।

अब तो हम इन सहृदय मित्रों के प्रेमपूर्ण प्रश्नों का, जो उन्होंने हमसे भारत और खासकर हमारी बिंदियों, मांगों और साड़ियों के संबंध में पूछे थे, बड़ी देर तक उत्तर देने पड़े । दूकानदार माल बेचना भूल गये, ग्राहक खरीदना भूल गये । आखिर दूकानदार ने बड़े संकोच के साथ हमें कुछ खरबूजे भेंट किये और कहा, "हम सोची के खेतिहरों की ओर से हमारे सबसे बड़े मित्र भारतीयों के लिए तुच्छ हमारी भेंट ।" हमें इस भेंट को स्वीकार करने में बड़ी लाज लग रही थी । हमने इस प्रेमोपहार को स्वीकार न करने लिए तरह-तरह के बहाने किए, परन्तु हमारी एक न चली । आखिर हमने भेंट स्वीकार की । तभी जनता में से एक अधेड़ औरत किसी दूसरी दूकान से कुछ खरबूजे खरीद लायी और बड़े प्रेम से हमें देने लगी । हम इस स्त्री की उदारता से बड़े

मुग्ध हो गये और उसके उपहार को मैंने बड़े संकोच के साथ स्वीकार किया। दूकानदार ने हमसे खरबूजे ले कर उनकी फाँकें काटनी शुरू कर दीं।

"आप इन्हें खाकर देखें, ये हमारे कलखोज (सामूहिक कृषि संस्थान) के हैं।" उसने हमसे कहा और वहाँ खड़े हुए प्रायः सभी लोगों ने उसका समर्थन किया। जन समुदाय के बीच खरबूजे खाना हमें जँचता न था, परन्तु एक तो लोगों का आग्रह दूसरे करीने से कटी हुई सुन्दर तिकोनी फांकें, तीसरे आँखों के आगे वह फल जिसके लिए हम तीन साल से तरस रहे थे—हमने संकोच छोड़कर खरबूजों पर हाथ साफ करना शुरू कर दिया। मुझे इस बाजार में, इन साधारण ग्रामीणों का भारतीयों के प्रति इतना अधिक आकर्षण, इतना अधिक प्रेम, देख-देख कर आश्चर्य हो रहा था।

पुराने बन्धुओं के साथ

अन्ततः हम पेट भर खरबूजे खा कर और कुछ साबुत खरबूजे हाथ में लेकर बाहर निकले और टैक्सी खोजने लगे। अभी हमें अपने मित्र उमरानीकर जी के पास, जो यहीं सोची के एक सैनेटोरियम में विश्राम के लिए आये थे, जाना था। मंडी से बाहर हमें टैक्सी तो न मिली, पर सामने खड़ी हुई एक बस के कंडक्टर ने एक व्यक्ति को भेजकर हमें बस पर बैठने के लिए बुलाया और अन्ततः हमें सैनेटोरियम तक पहुँचा दिया, जहाँ कुछ प्रतीक्षा के बाद हमारी भेंट उमरानीकर जी से हुई। वह अपनी पत्नी श्रीमती विजया और पुत्र जयन्त के साथ यहां विश्राम करने आये थे। उन्हें न जाने कैसे हमारे सोची आने की सूचना हो गयी थी, और वे हम सबसे मिलने को उत्सुक थे। अस्तु:, जब हम उमरानीकर जी के कमरे में पहुँचे तो जैसे हमें खुली छूट मिल गयी, मानों हम मास्को या भारत में हों। इस समय हम नौ भारतीय, अर्थात् सोची भर के सभी हिन्दुस्तानी, इसी एक कमरे में दून की हांक रहे थे। हमने अपना बोझ हल्का करने के लिए सारे खरबूजे उमरानीकर जी के पुत्र जयन्त को भेंट कर दिये। इस समय सभी मस्त थे और उमरानीकर जी द्वारा बनायी गयी तरबूज

और खरबूजों की फांकों का भोग लगाते हुए हंसी कहकहों में खोये जा रहे थे। उस समय मुझे योरोप यात्रा के वे अपने तीस-बत्तीस दिन भी याद आ रहे थे जो इसी तरह हम नौ भारतीयों ने बड़े आनन्द में बिताये थे। उन नवरत्न योरोप यात्रियों में से इस समय सात मास्को से कोई डेढ़ हजार मील दूर यहाँ सोची में मौजूद थे।

हम सैनेटोरियम में एक घंटे तक रहे। रहते तो कुछ और, परन्तु इस चिन्ता से कि कहीं यात्री केन्द्र के भोजन का निश्चित समय समाप्त न हो जाय, हम उमरानीकर परिवार से विदा हुये। उमरानीकर जी ने वादा किया कि वे भी 'रिटर्न विजिट' पर हमारे यहाँ आयेंगे।

एक मनोरंजक घटना

काकेशिया-यात्रा के अपने अन्तिम दिन हमें ऐसा अनुभव हुआ जो मुझे बहुत काल तक याद रहेगा। बात यह हुई कि यात्री-केन्द्र कन्सर्ट इन्चार्ज महोदय हमारे पास आकर बोले, "आज हमने एक विशेष कन्सर्ट का आयोजन किया है, जिसमें केवल हमारे केन्द्र में रहने वाले अतिथि ही भाग लेंगे। यह आयोजन हमने अपने केन्द्र के रूसी निवासियों के आग्रह से ही किया है। आप भी हमें अपनी-अपनी कला दिखायें, आपसे यही प्रार्थना है।"

"मगर, भाई हम तो सिर्फ कलमकार हैं। गलेबाजी या धा-धिन तो हमें आती नहीं। ऐसे में आप हमें माफ ही कर ें।"

"वाह, यह खूब रही ! सारे विदेशी यही कहने लगें तो चल चुका हमारा कन्सर्ट। अजी, आपको जो भी आता है, वह हमारे सिर आँखों पर। हम उसका स्वागत करेंगे।"

हमें उनका आग्रह टालने का साहस न हुआ। हमने पूछा, "इस कन्सर्ट में और कौन-कौन लोग भाग ले रहे हैं ?"

"आप लोगों के अलावा पोलैंड और जर्मनी के लोग भी हैं ?" इन्चार्ज महोदय ने बताया।

जर्मनी वाले मेरे ही कमरे के साथ वाले कमरे में रह रहे थे। उनसे और हमसे जर्मनी के सम्बन्ध में, और अन्य विषयों पर भी, बहुत-सी बातें हुई थीं। आज हमने विशेष रूप से इस बात पर ध्यान दिया था कि वे लोग अकार्डियन बाजे पर गले की घिसाई कर रहे हैं। पोलैंड वाले कहां और किस कमरे थे, हमें मालूम न था।

सच पूछो तो नाच गाना हममें से किसी को नहीं आता था। पर यहां इनकार करने की गुंजाइश न थी—रूसियों के लिए विदेशियों के कलाप्रदर्शन का आयोजन जो किया गया था। आखिर हमने अपने ऊपर जब्र करते हुए इन्चार्ज महोदय का आग्रह इस शर्त के साथ मान लिया कि हम समाज के सामने केवल एक गाना प्रस्तुत करेंगे और कोई चीज नहीं।

"आपकी शर्त हमें मंजूर है", इन्चार्ज महोदय ने धन्यवाद देते हुए कहा।

अब जो हमने कमरे में आकर अपने दिल और दिमाग को टटोला तो सिवा दो चार फिल्मी गानों के हमें कुछ भी न आता था। फिल्मी गाने इस अवसर पर चल तो सकते थे पर हमने उन्हें इस डर से न गाना ही उचित समझा कि अगर हमसे रूसी में उनके भाव का अनुवाद करने के लिए कहा गया तो बात जमेगी नहीं। आखिर बहुत देर तक परस्पर शास्त्रार्थ करने के बाद हमने राष्ट्रीय गान अथवा "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" ही गाने का निश्चय किया किन्तु हमें यह आशंका बनी हुई थी कि आज कहीं हमारी खिल्ली न उड़े। अतएव हम कुछ परेशान भी थे।

कन्सर्ट ठीक नौ बजे शुरू हुआ। उस दिन हमारे पुरुष वर्ग ने शुद्ध भारतीय पोशाक अर्थात् धोती कुरता पहन रखा था और हम महिलाओं ने लकलकाती हुई बनारसी साड़ियाँ। हमारे पहुँचते ही वहाँ के अधिकारियों ने हमें मंच के ठीक नीचे, सबसे पहली पंक्ति में, जो हमारे लिए पहले से ही रिजर्व कर दी गयी थी, बिठाया। कन्सर्ट हमारे पहुँचने से पहले ही शुरू हो चुका था और इस समय पोलैंड के लोग वाद्यों का प्रदर्शन कर रहे थे। उनका यह प्रदर्शन खूब जमा। फिर जर्मनी की बारी आयी। उसमें कोई पच्चीस व्यक्ति

थे, जिनमें से एक महिला निर्देशिका का काम कर रही थीं। इसके बाद हमारी बारी थी। परन्तु हम यह देख रहे थे कि जर्मनों के पैर उखड़ रहे हैं, फिर भी लोग तालियां बजा-बजाकर उनका उत्साहवर्द्धन कर रहे हैं।

आखिर हम कलाकरों की भी बारी आयी और मंच पर घोषणा की गयी कि अब आपके सामने हमारे भारतीय अतिथि आ रहे हैं। इस पर वहाँ पूरी लय और ताल में तालियाँ बज उठीं। हम हजारों रूसियों के सामने रंग-मंच पर आ गये। सारा दर्शक समाज बड़ा उत्सुक दिखायी पड़ रहा था और हमारा स्वागत लगातार तालियाँ बजा-बजाकर कर रहा था।

अन्ततः पहले तो हमने 'सारे जहाँ से अच्छा...' वाला गाना गाया जो काफी जमा। और फिर, जब हमने घोषणा की कि अब हम अपना राष्ट्र गान गायेंगे, तो सारा समाज, शान्त भाव से, खड़ा हो गया और हमारा गान बड़ी रुचि से सुनता रहा।

गान समाप्त होने और दर्शकों के बैठ जाने के पश्चात् श्रीमती ओंकार ने दर्शकों से इस बात के लिए क्षमा याचना की कि यदि उन्हें हमारी कला पसन्द न आयी हो तो वह हमें क्षमा करें, इसलिए कि हम पेशे के कलमकार हैं, कलाकार नहीं। उनकी बात समयानुकूल थी और बड़ी विनम्रता से कही गयी थी। फलतः एक बार फिर जोरों की तालियों से हमारा स्वागत किया गया।

ठीक इसी समय अपनी पूर्व-योजना के अनुसार मेरा बेटा, विजय, सबसे आगे निकल कर माइक्रोफोन के सामने आ गया और उसने रूसी में एक छोटा-सा भाषण दे डाला। अभी तक विदेशी ग्रूपों ने ऐसे मौकों पर अपना काम दुभाषियों की सहायता से चलाया था क्योंकि उनमें से किसी को भी रूसी नहीं आती थी। हमसे भी श्रोता समाज यही आशा कर रहा था कि हम या तो अंग्रेजी में बोलेंगे या हिन्दी में। परन्तु इस छोटे से बालक के धारावाहिक रूसी भाषण में दोनों देशों के बीच मित्रता और शान्ति की हार्दिक इच्छा की अभिव्यक्ति देख कर दर्शक समाज में जैसे जोश आ गया था। और जब

उसने अपने भाषण के अन्त में कहा कि हम भारतीय चाहते हैं कि हमारी और आपकी मित्रता बढ़े ही नहीं बल्कि इस्पात की तरह ठोस और मजबूत बने, तो लोग कुर्सियों से उछल-उछल कर तालियाँ बजाने लगे। हमने जब अपना प्रदर्शन 'हिन्दी-रूसी भाई-भाई' के नारे से समाप्त किया तो सारे समाज ने हमारे सुर में सुर मिलाया। यहाँ मैं यह बात विशेष रूप से कह देना चाहती हूँ कि रूस की लगभग ७५ प्रतिशत जनता 'हिन्दी-रूसी भाई-भाई,' के नारे से पूर्णत: परिचित है।

हम अभी मंच से उतरने के लिए मुड़े ही थे कि इन्चार्ज महोदय हाथ में रूसी की एक सचित्र और मोटी सी पुस्तक ('सोची' शीर्षक, जिसमें सोची के समस्त दर्शनीय स्थानों के बड़े-बड़े सैकड़ों चित्र थे) लेकर हमारे सामने आये और समस्त श्रोताओं के समक्ष हमें वह पुस्तक भेंट की। उपस्थित समाज ने फिर जोरों की तालियाँ बजाकर जैसे मैत्री के उस साकार प्रतीक का समर्थन किया। उस दिन हमने प्रत्यक्ष देखा कि साधारण रूसी के मन में भारत के प्रति कितना आदर, कितना सम्मान, और कितना उत्साह है।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि मुझे सोची स्थान, काला सागर की अपनी यात्रा भर में बहुत ही अच्छा लगा था। योरोप और सोवियत संघ में मैंने बहुत से नगर देखे थे परन्तु सोची जैसी रमणीकता, हरीतिमा और पर्वत-सौन्दर्य मुझे कहीं देखने को न मिला।

सैनेटोरियम

एक बात और ! रूस के सैनेटोरियम (स्वास्थ्य एवं विश्राम केन्द्र) दुनिया भर में प्रसिद्ध है। यहाँ ऐसे-ऐसे प्राकृतिक सोते हैं जो अनेकानेक बीमारियों के लिए रामबाण हैं। इसीलिए सोची 'स्तलीत्सा कुरोर्तव' (अर्थात् स्वास्थ्य केन्द्रों की राजधानी) के नाम से विख्यात है। अकेले सोची में ही, प्राकृतिक सोतों के अलावा, ४८ स्वास्थ्य एवं विश्राम केन्द्र (सैनेटोरियम) हैं और सभी केन्द्रों की विशेषता यह है कि वे समुद्र के पास और अति रमणीक प्राकृतिक वातावरण में स्थित हैं।

दुनिया भर के सम्पन्न लोगों की यह इच्छा रहती है कि वे कुछ दिन सोची के किसी स्वास्थ्य केन्द्र में बिताकर विश्राम करें। हमारे हृदय में भी यह आकांक्षा उठना स्वाभाविक ही था।

यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि सैनेटोरियम में जगह प्राप्त करने के लिए महीनों पहले से प्रयत्न करना पड़ता है। सौभाग्य से मुझे यह द्रविड़ प्राणायाम नहीं करना पड़ा था। हाँ, मेरे पति को मास्को के अधिकारियों के साथ चार-पाँच बार सोची से फोन पर बातचीत अवश्य करनी पड़ी थी, जिसके परिणामस्वरूप हमें सबसे महँगा, किन्तु सोची का सबसे आलीशान सैनेटोरियम—मेतलुर्ग—का पास मिल गया था। यह पास हमने स्थानीय अधिकारियों से बदला कर 'प्राव्दा' सैनेटोरियम का इसलिए करा लिया था कि वह समुद्र के एकदम किनारे था और वहाँ मुख्यतः पत्रकार और लेखक जैसे व्यक्ति ही विश्राम करते थे। 'प्राव्दा' सैनेटोरियम मुख्यतः 'प्राव्दा' अखबार, जो रूस का सबसे प्रसिद्ध समाचारपत्र है, के कर्मचारियों के लिए बनाया गया है (चित्र सं० ११)। हम, यानी मैं और मेरे पति, यहाँ सोलह दिन रहे और विश्राम के साथ-साथ हमारा छुटपुट इलाज भी चलता रहा।

मज़ेस्ता

मैंने उत्सुकतावश यहाँ प्राकृतिक सोतों के इलाज की भी व्यवस्था देखी। यह इलाज मज़ेस्ता अस्पताल में किया जाता है (चित्र सं० १२)। वस्तुतः मज़ेस्ता नाम की एक नदी है, जिसमें रासायनिक तत्वों की बहुलता है। इस नदी के किनारे पुराना मज़ेस्ता और नया मज़ेस्ता नाम की दो इमारतें हैं जिनमें गर्मियों में औसतन कोई १२००० व्यक्ति स्नान-चिकित्सा के लिए आते हैं। मैंने यहाँ के सभी चिकित्सा विभाग देखे हैं। यहाँ मुख्यतः गठिया बाई की, और साधारणतया दिल, चमड़ी के रोगों और स्त्रियों के रोगों की, चिकित्सा होती है। बाई के रोगियों को, एक बाथ-बेसिन में, जिसमें मज़ेस्ता जल (गन्धकी सोते का पानी) भरा रहता है, ६ से लेकर १२ मिनट तक लिटाया जाता है। परिणामस्वरूप उनकी चमड़ी काफी देर तक के लिए लाल

पड़ जाती है और उन्हें बीमारी में लाभ होता है। जिन लोगों को हाथ या पैर की बाई होती है उन्हें आवश्यकतानुसार अपने हाथ या पैरों को ही, एक खास बरतन में कोई पाँच सात मिनट तक, रखने दिया जाता है। इस चिकित्सा का सम्पूर्ण कोर्स १२ स्नानों का होता है (चित्र सं० १३-१४)।

मज़ेस्ता जल से स्त्रियों के गुप्त रोगों और बाँझपन का भी इलाज किया जाता है। जब मैंने इस संबंध में मज़ेस्ता के प्रधान डाक्टर से यह प्रश्न किया कि इस इलाज से कितने प्रतिशत बाँझ स्त्रियाँ सन्तानवती बनीं, तो मुझे उत्तर मिला ५ प्रतिशत।

वस्तुतः यहाँ के सैनेटोरियमों और मज़ेस्ता स्नान की व्यवस्था देखकर मैं बड़ी ही प्रभावित हुई हूँ। चूंकि इस विषय पर मैं स्वतंत्र रूप से एक पुस्तक लिखना चाहती हूँ, अतएव इसे यहाँ प्रायः अछूता छोड़ रही हूँ।

दर्शनीय स्थल

सोची के दर्शनीय स्थानों में तीन जगहें विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **अखून**—मुख्य सोची नगर से कोई १५ मील दूर, पहाड़ी रास्ते पर, ६३३ मीटर की ऊँचाई पर, प्रायः १०० फुट ऊँची एक मीनार है, जो सन् १९३६ ई० में बनी थी। इस पर सबसे ऊपर तक चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। मीनार की चोटी पर चढ़ कर आप सोची, खोस्ता और आदलेर, इन तीनों नगरों को एक साथ देख सकते हैं। चोटी से नीचे देखने पर हरियाली आपका स्वागत करती है और बादल नीचे छूट जाते हैं।

वस्तुतः अखून काकेशिया का एक सुन्दर पर्वत और प्राकृतिक दृष्टि से बड़ा मनोरम स्थल है। सन् १९३६ ई० से पहले लोग यहाँ पैदल आया करते थे पर १९३६ से, जब से यहाँ पक्की सड़क बन गयी है, बसें आने-जाने लगी हैं।

मीनार के ठीक सामने 'अखून' नाम का एक जलपानगृह भी है। बाह्य आकृति की दृष्टि से यह जलपानगृह बड़ा शानदार लगता है।

२. दन्द्रारी—यह सोची का सबसे सुन्दर पार्क है जहाँ प्रायः ८०० किस्म के भिन्न-भिन्न वृक्ष हैं। पार्क कोई १६ हेक्टयर भूमि में फैला है। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, जगह-जगह फौवारे, लताओं के कुंज, यात्रियों के आराम के लिए बने मंडप, केले के पेड़, तरह-तरह के फूल, थाली जैसे जलपात, कमल, तथा कोका-बेली आदि इस पार्क की शोभा में चार चाँद लगाते हैं।

कहते हैं कि पहले पार्क निजी स्वामित्व में था किन्तु १९१७ ई० की क्रांति के पश्चात् वह रूसी समाजवादी संघ सोवियत जनतंत्र में मिल गया। पर १९२४ ई० के बाद से इसकी विशेष देख रेख हुई और यहाँ वृक्षों की संख्या बढ़ा दी गयी। बाग में प्रवेश करने का टिकट है १० कोपेक (लगभग ८ आने)।

३. अस्त्रोव्स्की संग्रहालय—नगर के बीचो-बीच एक छोटा और खूब-सूरत-सा भवन है जहाँ रूस का प्रसिद्ध लेखक अस्त्रोव्स्की अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में रहा है। जिस प्रकार हमारे बिहारी अकेली सतसई की रचना करके अमर हो गये उसी प्रकार रूस का यह महान लेखक 'काक स्ताल प्रीक्ल्यालस' (इस्पात को कैसे नर्म किया गया) नामक एक ग्रन्थ की रचना करके अमर हो गया। इस लेखक का जीवन संघर्षमय था—गरीब परिवार, माँ, बाप, भाई, बहन। अस्त्रोव्स्की को छुटपन से ही एक रसोई घर में नौकरी करनी पड़ी थी, फिर एक बिजली के कारखाने में सख्त श्रम करना पड़ा था। देश की सुरक्षा के लिए उसे मोर्चे पर भी जाना पड़ा था, जहां उसके सिर में जोर का आघात लगा था। फलतः कई बीमारियों ने उसे इतना जकड़ लिया था कि ३२ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। वह अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्षों तक सिर्फ चारपाई पर पड़ा रहा। बाई के कारण चारपाई पर बैठना तक उसके लिए असम्भव था। इन्हीं दिनों वह अन्धा भी हो गया; किन्तु उसे साहित्य से शौक था। वह प्रसिद्ध लेखकों-की रचनाएँ दूसरों से पढ़वाया करता था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी आश्चर्यजनक थी। कहते हैं कि एक बार की देखी या सुनी हुई चीज वह जीवन भर नहीं भूलता था। उसकी लेखनी में इतना बल था कि शीघ्र ही वह अपने लेखों के कारण सारे देश में प्रसिद्ध हो गया।

अपने लेख और पुस्तकों के अंश वह अपनी सेक्रेटरी को लिखवाया करता था। उसका कहना था "लेखक भी एक मज़दूर है जिसे ईमानदारी के साथ अपना पूरा-पूरा काम करना चाहिए।" वह प्रतिदिन शाम के समय अपनी सेक्रेटरी से दिन भर के कामों का लेखा-जोखा लेता और यह विश्वास कर लेता कि उसे एक दिन में जितना काम करना चाहिए वह पूरा हो गया है। मैंने लेखक का पलँग, उसकी सेक्रेटरी का कार्यालय, देश भर से लेखक को भेंट में मिली भिन्न भिन्न वस्तुएँ और उसका पुस्तकालय देखा है, जिसमें मुझे रवीन्द्रनाथ टैगोर की कृतियों के रूसी अनुवाद भी देखने को मिले। कहते हैं कि लेखक अपने काल में रवीन्द्र साहित्य से बड़ा प्रभावित हुआ था।

अस्त्रोव्स्की का जन्म १९०४ में और मृत्यु १९३६ में हुई थी। सम्प्रति उसकी पत्नी, जो मास्को स्थित अस्त्रोव्स्की संग्रहालय की डाइरेक्टर है, उसका एक पेंशन-प्राप्त भाई और एक बहन जीवित हैं। बहन सोची के अस्त्रोव्स्की संग्रहालय की डाइरेक्टर है। मैं उनसे मिली हूँ और उन्होंने मुझे भेंट में अस्त्रोव्स्की की फोटो वाला एक पदक दिया है।

सोची की सुन्दरतम इमारतों में प्रायः सभी सैनेटोरियम—और विशेष रूप से मेतलुर्ग, अर्जोन्स्कीदजे, वाराशिलोव और प्राव्दा—सोची का बन्दरगाह (चित्र सं० १५), रेलवे स्टेशन (चित्र सं० १६), सरकारी थियेटर और सोची थियेटर आदि प्रमुख हैं। सोची एक ऐसा केन्द्र है जहाँ से जल, थल और नभ, सभी मार्गों से यातायात के साधन देश के एक कोने को दूसरे कोने से मिलाते हैं।

कुछ सैनेटोरियम तट से थोड़ी दूर पहाड़ियों पर भी स्थित हैं। इन सैनेटोरियमों को काले सागर से मिलाने के लिए रूस की सरकार ने ऐसे प्रायः सभी सैनेटोरियमों में एक ट्राम जैसी गाड़ी की व्यवस्था की है जिसे फनीकुलर कहते हैं (चित्र सं० ९)। यह गाड़ी पटरियों पर चलती है और यात्रियों को काला सागर के तट तक मुफ्त लाती ले आती है। सोची का प्रमुख मार्ग, कुरोर्तनया मार्ग, भी बड़े मनोरम स्थानों के मध्य से होकर जाता है (चित्र सं० १०)।

याल्ता की ओर

सैनेटोरियम में २१ दिन तक विश्राम कर चुकने के पश्चात् मैं, अपनी

आगे की यात्रा पर रवाना हुई। यहाँ से मुझे समुद्री जहाज द्वारा क्रीमिया के एक अति सुन्दर नगर याल्ता जाना था। हमारे लिए टिकटों की व्यवस्था हमारे सैनेटोरियम की डाइरेक्टर ने ही कर दी जिसके लिए मुझे प्रति व्यक्ति २१ रूबल (लगभग १०० रुपया) टिकट देना पड़ा था। यह प्रथम श्रेणी का किराया था।

अस्तु, हम २१ अगस्त १९५९ को दिन के तीन बजें एक विशाल रूसी जहाज़ पर बैठे और हमारा जहाज ठीक चार बजे सोची बन्दरगाह से रवाना हुआ।

मैं इस जहाज की भीतरी साज सज्जा के बारे में दो चार शब्द लिख देना असंगत नहीं समझती। मेरे जहाज का नाम था 'रसिया' (रूस)। यह जहाज १८२ मीटर लम्बा, २२½ मीटर चौड़ा और ३० मीटर (७½ मीटर पानी के नीचे) ऊँचा था। जहाज पर कुल सात मंजिलें थीं, जिनमें तीन मंजिलों पर रहने के केबिन बने थे।

सारे जहाज में छोटे-बड़े कुल कोई डेढ़ सौ केबिन थे। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के यात्रियों को केबिन में जगह मिलती थी। प्रथम श्रेणी के प्रत्येक केबिन में विशेष सुविधा थी। उसमें दो बढ़िया बिछे हुए पलंग, दो गद्देदार गुदगुदी कुर्सियाँ, एक पूरे फर्श का कालीन, गुसल खाना, शौच-गृह, कपड़े रखने की एक आलमारी और चार-चार तौलिये थे। हर केबिन में एक-एक गोल खिड़की थी जिस पर बैठकर समुद्री यात्रा का पूरा आनन्द लिया जा सकता था।

दूसरे और तीसरे दर्जे में एक-दूसरे के ऊपर लगे हुए पलंग और एक-एक मेज थी। उनके लिए शौचगृह अलग भी था और कामन भी। यहाँ भी दो-दो कुर्सियाँ और एक-एक मेज थी।

सबसे नीचे की मंजिल में ज़हाज-चालक तथा कर्मचारियों के केबिन और मशीनें थी। पाँचवीं और छठी मंज़िल पर डेकें थी जो ऊपर से छायी हुई थीं। डेकों पर लम्बी-लम्बी आराम कुर्सियाँ थीं, जिन पर चौथे दरजे के यात्री

लेटे-बैठे यात्रा कर रहे थे। सातवीं मंजिल पर जहाज की ऊँची छत थी, जहाँ चढ़ना यात्रियों के लिए निषिद्ध था। जहाज़ रवाना होने के कोई चार-पाँच घंटे बाद मैं और मेरे पति उसके कप्तान से मिले, और उससे यह इच्छा प्रकट की कि वह हमें अपना जहाज दिखाने की व्यवस्था कर दे। जहाज का कप्तान एक बूढ़ा रूसी था, और स्वभाव का मधुर था। उसने तुरन्त जहाज पर काम करने वाली लड़की को हमारे साथ किया और हमने प्रायः सारा जहाज देख लिया। हाँ सबसे नीचे का भाग, जहाँ मुख्य मशीन थी, मैं न देख सकी। यह भाग सुरक्षा की दृष्टि से किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं दिखाया जाता था।

सारे जहाज पर लगभग डेढ़ हजार यात्री थे, जिनमें से ७४० केबिनों में और बाकी डेक पर यात्रा कर रहे थे। उनके अलावा उस पर कोई ३०० कर्मचारी भी काम करते थे।

जहाज के अगले और पिछले भाग में सामान भरा रहता था। वहीं मैंने सैकड़ों कारें लदी देखीं। अधिकतर कारें सफर करने वाले यात्रियों की थीं।

जहाज क्या था चलता-फिरता शहर या कोई बड़ा होटल था। वहाँ रेस्ट्रां, भोजनालय, गर्म पेय (चाय, काफी, कोको) की दूकान, आइसक्रीम और सोडावाटर की दूकान, बिसातखाने की दूकान, पूछ-तांछ घर, नाई की दूकान, पुस्तकालय, वाचनालय, तैरने का बड़ा तालाब, बाल डान्स का बड़ा सा मंच, सिनेमा, रेडियो, कन्सर्ट की व्यवस्था, यात्रियों के बजाने के लिए पियानो, बैठने और सुस्ताने के लिए सोफे, जगह-जगह टेलीफोन और रहने की तीनों मंजिलों तथा प्रायः सभी दूकानों और मनोरंजन एवं पढ़ने अथवा आराम करने की सार्वजनिक जगहों पर फर्श पर बिछे हुए सुन्दर कालीन थे।

ऐसे वातावरण में महीनों यात्रा करने पर भी मन नहीं ऊब सकता। मेरी समुद्री यात्रा केवल चौबीस घंटे की थी, फिर भी मैंने जहाज के उपर्युक्त प्रायः सभी स्थानों का उपयोग किया। सौभाग्य से जहाज की कुछ महिला कर्मचारी मेरी मित्र बन गयीं और उनके साथ मेरा समय बड़े आराम से कट गया।

इस यात्रा में जहाज के वातावरण के अलावा और कोई उल्लेखनीय बात न थी। मैंने प्रायः जहाज की छठी मंजिल के डेक पर से समुद्र को दूर-दूर तक देखा है, चर्मचक्षुओं से भी और दूरबीन से भी, किन्तु मुझे ऊपर आसमान और नीचे, जहां तक निगाह जाती थी, काले सागर के नीले-नीले जल के अलावा और कुछ न दिखायी पड़ता था। हाँ, कभी-कभी जब कोई बस्ती आ जाती, तो कुछ पहाड़ियाँ और उन पर बने छोटे-छोटे मकान दिख जाते थे। इस यात्रा में मैंने सूर्योदय तथा सूर्यास्त के पूरे वैभव का निकट से अनुभव किया है। मैंने दिनकर के लाल-लाल गोले को समुद्र की गोद से उठते और उसी में समाते हुए देखा है। मेरी कल्पना के समक्ष ऐसी और भी बहुत सी पंक्तियाँ घूम गयी हैं जो प्रकृति के इस चिरन्तन सत्य को वाणी देने के लिए कवियों ने लिखी हैं।

★

याल्ता

हमारा जहाज दिन के ठीक ढाई बजे याल्ता के बन्दरगाह पर पहुँच गया और हम जहाज से उतर कर प्लेटफार्म पर आ गये। यहाँ हम सोच ही रहे थे कि अब क्या करें, कहाँ से टैक्सी ढूँढ़ें, किससे कुछ पूछें कि हमारी भारतीय वेशभूषा देखकर एक सज्जन हमारे पास आये और अँग्रेजी में बोले "आप भारतीय हैं, आपको ही ले आने के लिए यह कार भेजी गयी है। कृपया इस पर बैठ जायँ और होटल चलें।"

अब हमें याद आया कि हमने सोची में वहाँ के स्थानीय 'इन्तूरिस्त' (यात्रियों की सुविधा की व्यवस्था करने वाली रूसी फर्म) को फोन करके उनसे याल्ता और सिम्फरोपल के किसी होटल में जगह रिजर्व कराने को कहा था। और, इसीलिए याल्ता के होटल-अधिकारियों ने हमें होटल तक ले आने के लिए अपनी गाड़ी भेज दी थी।

हम, यानी मैं और मेरे पति, कोई पन्द्रह मिनट बाद याल्ता के सबसे शानदार होटल, ओरलियान्दा होटल, में पहुँच गये। पेट पूजा हम जहाज पर ही कर चुके थे, अतएव फिलहाल खाली थे। हमने अपना सामान अपने कमरे में रखा, दस पाँच मिनट पलंग तोड़ा और याल्ता की सड़कों पर घूमने निकल पड़े।

नगर-वर्णन

याल्ता, तीन ओर से पहाड़ों और एक ओर से समुद्र से घिरा हुआ एक छोटा-सा नगर है, जो अभी पिछली ही दशाब्दी में अधिक विकसित हुआ है। इसका बन्दरगाह भी बहुत छोटा है। शहर में सम्भवतः तीन चार बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। अधिकतर मकान दूर-दूर तक पहाड़ियों पर बसे हैं। याल्ता का सबसे सुन्दर स्थल समुद्र का किनारा है जहाँ हर समय बड़ी चहल-पहल रहती

है। शाम के समय प्रायः सारा नगर चहल-कदमी के लिए वहीं एकत्र होता है। मेरा होटल इसी समुद्री तट पर था और मैं अपने कमरे के छज्जे पर बैठी हुई अपने सामने अनन्त दूरी तक फैला हुआ काला सागर, नीचे तट पर चहल-कदमी करने वाले हजारों व्यक्तियों और दूर-दूर तक पहाड़ियों पर बने हुये मकानों को देख रही थी।

अस्तु, पहले तो हमने यह प्रयत्न किया कि यदि कहीं से कोई बस यात्रियों को लेकर शहर दिखाने जाती हो तो उसी पर हम भी हो लें किन्तु इस समय वैसी व्यवस्था न हो सकी। अतः हम टहलते-टहलते यात्री-केन्द्र पहुँचे और वहाँ के एक अधिकारी से मिले। सौभाग्य से केन्द्र का एक यात्री दल पैदल नगर-यात्रा को जा रहा था। इस दल में हम दोनों भारतीयों को भी शामिल कर लिया गया और हम चढ़ाइयाँ चढ़ने लगे।

इस सम्बन्ध में मैं यह बताना चाहती हूँ कि क्रीमिया ने रूस के बहुत से चोटी के लेखकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। चेखव, गोर्की और शल्यापिन जैसे रूसी लेखक तो याल्ता की ही गोद में पले थे। अपनी पैदल यात्रा के दौरान में गाइड ने हमें एक स्कूल दिखाया जिसके प्रबन्ध कौंसिल के एक सदस्य चेखव भी थे। कुछ आगे हमने एक ऊँचा सा मकान देखा जिस पर दूसरी मंजिल में एक छज्जा बना था। छज्जे के पीछे एक कमरा था जिसमें गोर्की, चेखव और शल्यापिन प्रायः उठते-बैठते और साहित्य-वार्त्ता करते थे। इसी कमरे के पास, कोई बीस गज की दूरी पर मैंने वह मकान भी देखा जिसकी दूसरी मंजिल पर मैक्सिम गोर्की रहता था। मुझे उसके मकान का वह छज्जा भी दिखाया गया जहाँ वह प्रायः बैठा करता था। छज्जे पर लोहे की सलाखें लगी थीं। इन सलाखों के ऊपर भी मैंने उसी लकड़ी की चौखटे में कोई एक-एक फुट लम्बी सलाखें अलग से लगी देखीं। गाइड ने मुझे बताया कि ये सलाखें स्वयं गोर्की ने अपने हाथों से लगायीं थीं ताकि उसका बेटा उछल-फाँद करता हुआ नीचे न गिरे।

इस मकान के नीचे कई पेड़ लगे थे। हमारे दल को आया देख वहीं के आस-पास रहने वाला कोई बारह-तेरह साल का एक बालक मेरे पास आया और बोला, "चलिये आपको गोर्की की बनायी एक चीज दिखाऊँ।" हम सब उसे

बालक के पीछे हो लिये और वह हमें वहीं पास के एक बड़े से पेड़ के नीचे ले आया। वहाँ हमने देखा कि पेड़ पर, काफी उँचाई पर, दो डालों को मिलाता हुआ लकड़ी का एक तख्ता लगा था। बड़े-बूढ़ों के कथनानुसार ही, उस बालक ने भी हमें बताया कि यह तख्ता स्वयं गोर्की ने ही वहाँ फिट किया था। मैंने गाइड से इस कथन की सच्चाई पर प्रकाश डालने को कहा। पर गाइड बोली कि यह बात वह लोग कहते हैं जो गोर्की के जमाने से, अर्थात् पिछले पचास साठ साल से, यहाँ रहते आ रहे हैं। परन्तु यह बात मेरे गले तले न उतरी। जो व्यक्ति अपने बेटे को कूद-फाँद से बचाने के लिए अपनी बालकनी का जंगला ऊँचा कर सकता है वही बेटे के बैठने के लिये जमीन से २५, ३० फुट की उँचाई पर पेड़ में बैठकी फिट करेगा, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।

अस्तु, गोर्की के मकान को देखने के बाद हम पहाड़ी पर और ऊपर चढ़ने लगे। इस प्रकार कोई दस मिनट तक चढ़ चुकने के बाद हमारा काफिला रुक गया। अब हमने जो सामने की ओर देखा तो याल्ता नगर का एक भाग हमारे सामने था, हमारे नीचे दूर-दूर तक पहाड़ियों पर फैला हुआ। यहाँ गाइड ने हमें याल्ता के कुछ सैनेटोरियमों, कुछ अन्य भवनों और एक दो गिरजों का इतिहास बताया, दूर से हमें वे भवन दिखाये और कुछ अन्य छुट-पुट बातें बतायीं। फिर वह हमें नगर का पश्चिमी भाग दिखाने ले गयी। इस भाग में हरियाली की प्रचुरता थी। गाइड ने हमें बताया कि स्थानीय कानून के अनुसार कोई नया मकान तब तक नहीं बन सकता जब तक उसके चारों ओर निश्चित मात्रा में हरियाली की व्यवस्था न कर दी जाय। यहाँ से उसने हमें 'चेखव सैनेटोरियम' दिखाया जहाँ टी-बी के मरीजों का खास इलाज होता है। वस्तुतः याल्ता की वायु सूखी और स्वच्छ होने के कारण फेफड़ों के लिए अति लाभकर है। इसीलिए याल्ता में विशेष रूप से वे सैनेटोरियम हैं जहाँ टी-बी के मरीज आते हैं। आज जिस सैनेटोरियम का नाम चेखव के नाम पर पड़ा है वहाँ कभी चेखव भी रहा था और उसकी टी-बी की बीमारी का वहीं इलाज हुआ था। उसी के उद्योगों के परिणामस्वरूप उस सैनेटोरियम का प्रसार और विस्तार हुआ था।

याल्ता में एक सैनेटोरियम है सिर्फ लेखकों के लिए, जहाँ वे न सिर्फ आराम करते या इलाज कराते हैं, अपितु अपना लेखन-कार्य भी करते हैं और इसके लिए उन्हें पुस्तकों आदि की सभी सुविधायें दी जाती हैं।

याल्ता में अरमीनियाई विशिष्ट कला का एक गिरजा है जो देखने में बड़ा सुन्दर लगता है। सम्प्रति उससे गिरजे का काम नहीं लिया जा रहा है।

इस प्रकार हमने, उसी टीले पर से सारे याल्ता की विहंगम यात्रा सी कर डाली। वापसी पर हम एक थियेटर हाउस से होकर गुजरे जो याल्ता के समुद्री तट पर स्थित एक सुन्दर से उद्यान में था। इस थियेटर ने चेखोव की बहुत सी कृतियों का प्रदर्शन किया है। साथ ही इस पार्क में १९५७ ई०में भारतीय कलाकारों द्वारा नृत्य का भी प्रदर्शन किया गया था। गाइड ने मुझे बताया कि भारतीय नृत्य देखने के लिए सारा नगर टूट पड़ा था और पेड़ों की डाल-डाल पर बैठे हुए लोग नृत्य का आनन्द ले रहे हैं।

अस्तु, जब हम अपनी पैदल यात्रा से वापस लौटे तो शाम को सात बज चुका था। यहाँ हमें केवल दो दिन रहना था। अगले दिन हमें सिम्फरोपल जाना था क्योंकि वहीं से हमें मास्को के लिए हवाई जहाज मिलना था। फलतः हम बस स्टेशन पहुँचे और बड़ी कठिनाई से अगले दिन शाम को साढ़े सात बजे का टिकट प्राप्त कर सके।

चेखव भवन

दूसरे दिन सुबह हमने यात्रा का एक छोटा-सा प्रोगाम बनाया और सबसे पहले चेखव का वह मकान देखने चले, जहाँ वह अपने परिवार के साथ रहता था और जो तत्कालीन प्रसिद्ध रूसी लेखकों (गोर्की, शल्यापिन, करलेंको, मामिन सिबिर्याक आदि) का अड्डा था। आजकल इस घर में चेखव संग्रहालय है जहाँ गर्मियों में प्रतिदिन औसतन नौ-सौ व्यक्ति और जाड़े में प्रायः इससे आधे लोग आया करते हैं। संग्रहालय में प्रवेश करने के लिए २० कोपेक (लगभग १ रु०) का टिकट भी है।

याल्ता में चेखव भवन एक तीर्थ-स्थान से कम नहीं है। याल्ता आने वाले प्रायः सभी विदेशी तथा रूसी, बिना इस पुण्यभूमि के दर्शन किए हुए नहीं

लौटते। यह गृह वस्तुतः चेखव संग्रहालय है, जहाँ प्रायः वे सभी चीजें उसी दशा में और उसी स्थित में मौजूद हैं जैसी वे चेखव के जीवन-काल में थीं।

मैं इस घर का संक्षिप्त वर्णन कर देना अपेक्षित समझती हूँ। यह घर देखने में साधारण-सा है जो चारों ओर एक वाटिका से घिरा हुआ है। इस गृह के निर्माण की भी एक रोचक कथा है जिसे आप लेखक की बहन चेखोवा के ही शब्दों में सुनिए—"लेखक (चेखव) के पास कभी भी अधिक धन नहीं रहा। गृह निर्माण के समय उनकी आर्थिक दशा बड़ी खराब थी। इसीलिए उन्होंने अपनी जमीन बैंक में गिरवी डाल दी थी। १८९९ ई० के आरम्भ में "नीवी" प्रकाशन-गृह ने उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि वह अपनी समस्त रचनाओं का, जो वह लिख चुके हैं, लिख रहे हैं या भविष्य में लिखेंगे, प्रकाशन-अधिकार बेच डालने का करार कर लें। आत्यावश्यकतावश उन्हें यह प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। फिर, जैसा कि बाद में पता चला, अन्तोन पावलोविच के लिए यह सौदा बड़ा महंगा पड़ा। हाँ, इस विक्रय के कारण मेरे भाई याल्ता स्थित अपने भवन का सुचारु रूप से निर्माण कर सकने में जरूर सफल हुए।"

इस भवन में तीन कमरे चिर-स्मरणीय हैं, जो आज भी चेखव की दिनचर्या की कहानी कह रहे हैं—खाने का कमरा, पढ़ने का कमरा और सोने का कमरा। इन कमरों की सभी चीजें—छोटी बड़ी मेजें, किताबों की आलमारियाँ, बड़ी-बड़ी तस्वीरें, दीवारों पर टंगे हुए चित्र आदि—आज भी ठीक उसी दशा में रखी हैं जैसी वे चेखव के दिनों में थी। संग्रहालय के अधिकारी इस दिशा में बड़े प्रयत्नशील हैं कि संग्रहालय में आकर दर्शक को चेखव के दिनों की असली झलक मिल सके।

खाने के कमरे में एक बड़ी-सी-मेज, उस के इर्द-गिर्द चार-पाँच साधारण कुर्सियाँ, दीवारों पर बड़े आकार के तीन चित्र, प्लेट-प्यालों वाली एक बड़ी अलमारी और एक पियानो रखा है। इस कमरे से लगा हुआ एक बरामदा है जहां एक मेज और उस के इर्द-गिर्द कुछ कुर्सियाँ पड़ी हैं। गरमी के दिनों में चेखव, उनके परिवार के लोग तथा उनके यहाँ प्रायः आने वाले तत्कालीन महान रूसी लेखक—करालेंकी, शिशकिन, पावलेंको, मामिन सिब्रियाक आदि—

बरामदे में चाय पीते थे। बरामदे में शीशे की खिड़कियाँ हैं जिन्हें खोल देने पर दर्शक बाटिका की सुगन्धि में डूब जाता है।

सोने का कमरा साधारण-सा है जिसमें लोहे का एक पलंग, पलंग के सिरहाने पुस्तकों की एक छोटी-सी आलमारी और तकिए के दाहिनी ओर औसत लम्बाई-चौड़ाई की एक मेज है जिस पर एक टेबुल लैम्प और कुछ लेखन-सामग्री रखी है। इसी कमरे के एक कोने में एक आराम कुर्सी और एक सोफा भी पड़ा है।

सारे चेखव-भवन में उनका लिखने-पढ़ने का कमरा ही एक ऐसा स्थान है जहाँ कलम के पुजारियों को कुछ राहत मिलती है। इस कमरे में दक्षिण की ओर एक बड़ी सी खिड़की है जो बाटिका में खुलती हैं। इस खिड़की पर ऊपर से नीचे तक दो परदे पड़े हुए हैं जिन्हें सरका कर कमरे में आने वाला प्रकाश रोका जा सकता है। चेखव आवश्यकतानुसार इस परदे का प्रायः प्रयोग करते थे। दाहिनी ओर लिखने की वह मेज है जिस पर उन्होंने १८९९ ई० से अपने अन्तिम दिनों तक कितनी ही अमर कृतियों की रचना की है। इस मेज पर फूलों सहित एक गुलदान रखा है। इस छोटी मेज के सामने एक बड़ी गुदगुदी, सोफे-जैसी, आरामकुर्सी रखी है। खाने के बाद वह इसी कुर्सी पर विश्राम करते और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। बाईं ओर पास ही एक छोटी-सी अर्द्धवृत्ताकार मेज है जिस पर प्रसिद्ध रूसी लेखकों, कलाकारों और चेखव के इष्ट-मित्रों के चित्र रखे हैं।

इस कमरे में पड़ी हुई लिखने की मेज के दाहिनी ओर कोने में एक छोटी-सी मेज है, जिस पर उन के—वह पेशे के डाक्टर थे—चिकित्सा सम्बन्धी उपकरण रखे हैं। लिखने की मेज के पीछे एक बड़ा-सा दीवान पड़ा है जिस पर तीन गोल गुदगुदे गाव-तकिए रखे हैं। जब कभी उन के यहाँ कोई मेहमान आते थे तो चेखव इसी दीवान के एक कोने में बैठ कर उन की बातचीत का आनन्द लेते थे। इस कमरे में तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकारों के, जो प्रायः चेखव के मित्र थे, चित्र टंगे हैं। दीवान के सिरहाने के ठीक ऊपर लेखक की माँ, योगेन्रा याको बलेवना, का एक बड़ा चित्र टंगा है। उनकी माता उनकी मृत्यु के

पन्द्रह वर्ष बाद तक जीवित रहीं। लेखक अपनी माता को बड़ा प्यार करते थे और चिन्ताओं के क्षणों में उन्हीं का सहारा लेते थे। इस कमरे के पार्श्व में एक हीटर है जिसमें कोयले सुलगा कर जाड़ों के दिनों कमरा गरम किया जा सकता है। इसी कमरे में दाहिनी ओर औसत लम्बाई की एक आलमारी है, जिसमें आज भी प्रसिद्ध रूसी लेखकों की वे रचनाएं रखी हैं जिन्हें चेखव बड़े चाव से पढ़ते थे। यहाँ पुश्किन, तुर्गनेव, गोगल, गोर्की आदि के ग्रन्थ आज भी सुरक्षित रखे हैं। इसी कमरे में, अन्य बहुत-से चित्रों के साथ, प्रसिद्ध तत्कालीन लेखक लेव तोल्सतोए का भी एक चित्र टंगा है।

सारा संग्रहालय चेखव का जीता-जागता स्मारक है और दर्शक को निरन्तर साहित्यक कार्य करते रहने की विचित्र प्रेरणा देता है।

मैं भी इस संग्रहालय में अन्य सैकड़ों दर्शकों के साथ चली गयी थी। किन्तु शीघ्र ही मेरी हुलिया ने खुले रूप में यह घोषणा कर दी कि मैं भारत से चेखव-भवन का दर्शन करने आयी हूँ। फलतः संग्रहालय के डाइरेक्टर ने तत्काल हमारे लिए एक अंग्रेजी जानने वाली गाइड का प्रबन्ध किया और जब हम सारा भवन देख चुके तो गाइड मुझे और मेरे पति को डाइरेक्टर के कमरे में लाई, जहाँ चेखव के व्यक्तित्व और उनकी कृतियों के बारे में और भी बहुत सी बातें मालूम हुईं जो प्रायः पुस्तकों में नहीं मिलतीं। चलते समय डाइरेक्टर महोदय ने मेरे पति को चेखव-भवन का एक चित्र भेंट किया। यह चित्र, उन्हीं के कथनानुसार, १९०० ई० में चेखव द्वारा निर्मित भवन का एक दुर्लभ और असली चित्र है।

चेखव को लिखने-पढ़ने के बाद सब से अधिक शौक बागवानी का था। यह बात स्वयं चेखव ने कई स्थलों पर कही भी है। चेखव-भवन में ऐसे कई वृक्ष आज भी लहलहा रहे हैं, जिन का बीजारोपण स्वयं लेखक के हाथों हुआ था।

चेखव को संगीत से बड़ा प्रेम था और वह प्रायः संगीत का अभ्यास किया करते थे। उन दिनों भी रूस में नाटकों का बोल-बाला था। आज तो नाटक सामान्य रूसी के मनोविनोद का प्रमुख साधन है। चेखव ने कई नाटक लिखे

हैं। उनके कुछ नाटक तो उनके जीवन काल ही में खेले जा चुके हैं। अस्वस्थ होने के कारण अपने नाटकों का प्रदर्शन देखने के लिए मास्को जाना चेखव के बूते की बात न थी। अतएव उनकी असमर्थता देख कर उनके नाटकों का प्रदर्शन करने वाली रूस की एक सबसे बड़ी नाटक कम्पनी, आर्ट्स थियेटर, स्वयं याल्ता आई और उसने याल्ता के एक मामूली-से नाट्य-गृह में लेखक के समक्ष उसके नाटकों ('चायका' और 'चोचा वान्या') का प्रदर्शन किया। यह बात १९०० के वसन्त के दिनों की है। याल्ता निवासी आज भी इस घटना का बड़े गर्व के साथ उल्लेख करते हैं।

चेखव के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात और है। वह थे तो महान् लेखक किन्तु पेशे के डाक्टर थे। उन दिनों डाक्टर बनना गर्व की बात समझी जाती थी। चेखव ने डाक्टरी का पूरा कोर्स विशेष-योग्यता सहित पास किया था। उन्हें गरीबों की मदद में एक विचित्र आत्म-संतोष का अनुभव होता था। उनके दरवाजे निर्धनों के लिये सदा खुले रहे और जो भी मरीज आया उन्होंने उसके रोग का निदान किया और उसके लिए दवा लिख दी। उनकी यह निःशुल्क सेवा उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक चलती रही।

याल्ता की जलवायु क्षय रोगियों के लिए बड़ी ही लाभदायक समझी जाती रही। सम्भवतः इसीलिए क्षयरोगी, अन्तोन पावलोविच चेखव, ने भी याल्ता में रहना पसन्द किया था। उन दिनों वहां क्षयरोग का विशेष रूप से इलाज किया जाता था और क्षय के रोगी दूर-दूर से चिकित्सार्थ वहाँ आते थे, किन्तु वहाँ इलाज पर खर्च होने वाली रकम रोगियों की कमर तोड़ देती थी और उन्हें मुफ्त इलाज के लिए चेखव की शरण लेनी पड़ती थी। इन परिस्थितियों में चेखव ने अनुभव किया कि याल्ता में तुरन्त एक ऐसा सैनेटोरियम खुलना चाहिये जो सर्वसुलभ हो, निःशुल्क हो। फलतः उन्होंने समाज हितैषी डाक्टरों को एक मंच पर एकत्र किया, अखबारों में लेख लिखे और अपने मित्रों, परिचितों और सुहृदों को पत्र लिख-लिख कर उनसे सहायता देने को कहा। उनके इन प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि याल्ता में क्षय के मरीजों के लिए

'याउजलार' नाम का पहला सार्वजनिक निःशुल्क सैनेटोरियम खोला गया और इस प्रकार एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की गई। आज इस सैनेटोरियम का नाम है 'चेखव सैनेटोरियम', जहाँ सारे रूस से आने वाले क्षयरोगियों की मुफ्त चिकित्सा की जाती है।

इस सिलसिले में मैं यह अवश्य कह देना चाहती हूँ कि रूस के लेखक जितना अपनी कृतियों के बल पर अमर हैं, उससे अधिक अमर हैं वे रूसी सरकार की बदौलत। तोल्स्तोये, गोर्की, चेखव, पुश्किन, मायाकोव्स्की, अस्त्रोव्स्की आदि बहुत से लेखकों अथवा कवियों के सैकड़ों संग्रहालय रूस भर में बिखरे पड़े हैं और करोड़ों व्यक्ति प्रति वर्ष उन्हें देख-देख कर अपनी दिवंगत महान आत्माओं की याद करके प्रेरणा प्राप्त करते हैं। हमारे देश में ऐसी व्यवस्था प्रायः नहीं है, यदि कहीं है भी तो नाम भर के लिए। इस दिशा में हमें रूसियों का अवश्य अनुकरण करना चाहिए।

अलूपका की बस यात्रा

चेखव भवन से निकलकर हम सीधे एक बस पर बैठे और अलूपका के लिए चल दिये। यह बस उस टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी रास्ते से होकर चल रही थी जिस पर याल्ता के लगभग ७० प्रतिशत सैनेटोरियम थे। अतएव हमें इन सैनेटोरियमों की निकट से झलक मिल गयी। मैंने सोची के कई सैनेटोरियम देखे हैं अतः कह सकती हूँ कि इस बात के बावजूद कि याल्ता में सोची से अधिक सैनेटोरियम एवं विश्राम गृह (लगभग ११२) हैं, सोची के सैनेटोरियम बाहर से बड़े ही नयनाभिराम हैं और महलों जैसे लगते हैं। सोची के सैनेटोरियमों में मुझे, याल्ता की अपेक्षा, हरियाली भी अधिक दिखी। बेशक याल्ता क्रीमिया के दक्षिणी समुद्री तट का सबसे बड़ा स्वास्थ्य-केन्द्र है। बाह्य सौन्दर्य की दृष्टि से मुझे याल्ता के कुछ सैनेटोरियम बहुत ही अच्छे लगे—क्रास्नोये, ज्नाम्या, उक्रइना, लिवादिया, अरियान्दा और अलूका (चित्र सं० १७)।

वरन्तसोव महल

मैं यहाँ याल्ता के एक अन्य दर्शनीय स्थल का उल्लेख और करना चाहती हूँ—वह है अलूका स्थित वरन्तसोव-महल। वरन्तसोव वस्तुतः मध्य उन्नीसवीं शताब्दी का एक धनाढ्य था जिसके पिता लन्दन में रूसी राजदूत थे। फलतः वरन्तसोव के काफी वर्ष लन्दन में बीते थे। याल्ता में उसने अपने ग्रीष्म-निवास के लिए एक सुन्दर सा महल बनवाया था, जो नगर के बिल्कुल आखिरी छोर पर, समुद्र के किनारे है। यह महल १८ वर्षों में बनकर तैयार हुआ था। महल में लगभग १५० कमरे हैं। सम्प्रति महल में एक संग्रहालय है, जिसे देखने के लिए शुल्क देना पड़ता है। महल का अधिकांश इँगलिश स्टाइल पर बना है, किन्तु उसमें इतालवी, चीनी और फ्रांसीसी कला के भी काफी नमूने मिलते हैं। अधिकतर कमरों में लकड़ी का सुन्दर और सूक्ष्म काम है, जिसे देखकर दर्शक चकित रह जाता है। यहाँ रूसी कला के भी बड़े सुन्दर नमूने हैं। मैंने इस महल के केवल आठ ही कमरे देखे थे। सारे कमरे एक से एक कलापूर्ण, एक से एक आकर्षक हैं। कुछ कमरों में फौव्वारे हैं। एक कमरे में बाग लगा है जहाँ ताड़ तक के वृक्ष हैं। निस्संदेह महल अपने स्वामी की सम्पन्नता का संदेशवाहक है। आजकल महल के बाकी भाग में एक सैनेटोरियम है।

याल्ता में एक प्रसिद्ध सैनेटोरियम है जो लिवादिया महल के नाम से प्रसिद्ध है। निस्संदेह लिवादिया एक बड़ा सैनेटोरियम है किन्तु उसे महल कहा जाना मेरी समझ में ठीक नहीं। मैंने यह सैनेटोरियम देखा है। बेशक इसकी शिल्प कला याल्ता स्थित पचासों सैनेटोरियमों से सुन्दर है, फिर भी उसमें मुझे कोई वास्तविक विशेषता नहीं दिखायी दी।

याल्ता के बाद काले सागर की हमारी कोई एक महीने की यात्रा पूरी हो गयी। इस यात्रा में मैंने क्रीमिया और काकेशिया का जो विश्व-विख्यात प्राकृतिक सौन्दर्य देखा था, वह सचमुच देखने की चीज थी।

दूसरे दिन, अर्थात् अपनी यात्रा के अन्तिम दिन, हमें साढ़े सात बजे सायंकाल मास्को पहुँचना था, अतएव हम शाम को ठीक साढ़े सात बजे याल्ता से सिम्फरोपल के लिए रवाना हो गये।

यहीं से हमें मास्को के लिए हवाई जहाज मिल सकता था। यह बस-यात्रा कोई साढ़े तीन घंटे में पूरी हो गयी। सिम्फरोपल में हमने होटल में जगह पहले से ही रिजर्व करा ली थी, अतएव जैसे ही हमने होटल में कदम रखा कि हमें एक अच्छा-सा कमरा दे दिया गया।

अगले दिन हमारे जहाज को कोई दो बजे दिन को उड़ना था और शहर देखने के लिए हमारे पास सिर्फ पाँच घंटे बचते थे। यद्यपि सिम्फरोपल विश्व-विख्यात क्रीमिया की राजधानी है, फिर भी सच बात यह है कि वह एक छोटा सा नगर है जहाँ रेल और हवाई जहाज के मार्ग हैं।

मैंने अपने होटल के इन्तूरिस्त आफिस से यहाँ के दर्शनीय स्थानों का पता चलाने की कोशिश की किन्तु आफिस वाले हमें एक संग्रहालय और कार्ल मार्क्स (इसी सड़क पर हमारा होटल था) और गोर्की मार्ग के अलावा और कुछ न बता सके (चित्र सं० १८)। वस्तुतः मैंने आशा की थी कि सिम्फ़रोपल एक आलीशान जगह होगी, जहाँ अनेकानेक दर्शनीय स्थल होंगे, बड़े-बड़े पार्क होंगे, बड़ी-बड़ी इमारतें होंगी, किन्तु मेरी वह आशा पूरी न हुई। हमें सन्तोष इसी बात का था कि हमें यहाँ ठहरना न था। अतएव मैंने उन मार्गों पर ही चहलकदमी करते हुये अपना समय व्यतीत किया। यहाँ के लोग बड़े ही शिष्ट, बड़े ही सभ्य थे। हमने यहाँ खुले दिल से अनेक विषयों पर लोगों से बातचीत की।

एक घटना

यहाँ मैं एक छोटी सी घटना का उल्लेख कर देना चाहूँगी। हम, यानी मैं और मेरे पति, नगर के एक पार्क में बैठे हुये एक रूसी बालक से खेल रहे थे कि हमारे पास एक भिखारी आया और हमसे कुछ मांगने लगा। मेरे पति ने एक रूबल निकाला और उसके हाथ में दे दिया। भिखारी अपने रास्ते चल

दिया। पर फिर, वह कोई पाँच मिनट बाद ही हमारे पास आया और बोला—"आप अपना रूबल वापस ले लें।"

"क्यों, मैंने यह रूबल तुम्हें खुशी से दिया है," मेरे पति ने उत्सुकता-वश कहा।

"नहीं, मैं यह न लूँगा। वह देखिये, उधर एक साहब खड़े हैं, उन्होंने आपको रूबल देते हुए देख लिया है। जब मैं उधर गया तो उन्होंने मुझे यह कह कर फटकारा कि तुम्हें विदेशियों के आगे हाथ फैलाने में शर्म नहीं आती? इसलिए यह रूबल मैं न लूंगा!"

मेरे पति ने उन साहब की ओर देखा, फिर भिखारी को समझाया, "मैं यह रूबल तुमसे किसी भी दशा में वापस न लूंगा। तुम किसी दूसरे रास्ते से निकल जाओ ताकि उन साहब की आंखों के सामने न पड़ो।"

"परन्तु सच बात यह है कि खुद मेरी आत्मा भी यह रूबल लेने की गवाही नहीं देती। आप हमारे अतिथि जो हैं," भिखारी बोला।

भिखारी की इस उक्ति का हम पर बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु मैंने उसे समझा बुझाकर विदा किया।

मैं यहाँ यह कह दूँ कि काले सागर की अपनी सारी यात्रा में मैंने भीख माँगने वाले केवल एक ही व्यक्ति को देखा था, यानी उसी भिखारी को। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि वह प्रदेश भिखारियों से शून्य है।

युद्ध-संग्रहालय

अब हम युद्ध-संग्रहालय देखने पहुँचे। यहाँ हमने २०, २० कोपेक के टिकट खरीदे और अन्दर जाकर कुछ देख ही रहे थे कि हमारे आने की सूचना किसी प्रकार वहाँ के डाइरेक्टर को लग गयी। वह भागता हुआ हमारे पास आया और हमारी वेशभूषा देखते ही हमसे पहला प्रश्न यही किया, "आप भारत से आ रहे हैं?"

"जी हाँ।"

"कब आये हैं?"

"कल रात।"

"तो अभी रहेंगे ?"

"जी हाँ, यही कोई दो घंटे। हमें दो बजे के जहाज से मास्को जाना है। सोचा आपका संग्रहालय ही देख लें।"

"हमारी खुशकिस्मती। मैं अभी गाइड का इन्तजाम करता हूँ, पर हमारी गाइड सिर्फ रूसी जानती है।"

"कोई बात नहीं। हम भी रूसी जानते हैं, काम चल जायेगा।" डाइरेक्टर ने तुरन्त एक महिला-गाइड हमारे साथ कर दी।

इस गाइड ने हमें पूरा संग्रहालय दिखाया। क्रीमिया की भूमि अतीत का संचय-स्थल रही है। यहाँ हमने हजारों वर्ष पहले के मिट्टी, पत्थर, धातु आदि के बरतन, शिलालेख, मूर्तियाँ, हथियार और अन्य तरह-तरह की चीजें देखीं और बहुत कुछ सूचना संग्रह की। गाइड सचमुच बड़ी शिष्ट थी। हम उसके व्यवहार से बड़े प्रभावित हुए। उसने यह कह कर सम्मति-पत्रिका हमारे सामने रखी कि "आप उस देश के प्रतिनिधि हैं जहाँ से हमारे नगर में कोई यदा-कदा ही आता है, कृपया आप हमारी स्मृति के लिए संग्रहालय के बारे में भी कुछ लिख दें।"

मेरे पति ने सम्मति-पत्रिका में अपनी सम्मति लिखी और हम डाइरेक्टर और गाइड को धन्यवाद देते हुए संग्रहालय से निकलकर उस दूकान पर आ गये जहाँ क्रीमिया के विशिष्ट उपहार बिकते थे। वहाँ मैंने कुछ चीजें खरीदीं, जिसमें पत्थर का दिल भी था। और उस दिल पर जड़े थे छोटे-छोटे सीप, छोटे-छोटे घोंघे।

अब जहाज छूटने में कोई एक घंटा रह गया था। इन्तूरिस्त वालों ने हमारे लिए कार का इन्तजाम पहले से ही कर दिया था। कार आकर हमारे होटल के सामने खड़ी हो गयी थी।

इन्तूरिस्त कम्पनी का मैनेजर मुझे हवाई अड्डे तक पहुँचाने आया। हमारा जहाज दोपहर को ठीक दो बजे उड़ा और हम कोई डेढ़ हजार किलोमीटर की सैर कर चुकने के बाद सायंकाल सवा चार बजे मास्को पहुँच गये।

●

Name of the Borrower	Card No.	Due Date